इकाई-1

पुनर्जागरण, धर्मसुधार आंदोलन और प्रबोधन
(Renaissance, Religious Reform Movement and Enlightenment)

••• (इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)

पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ होता है- "फिर से जागना"। यह वह स्थिति है जब विभिन्न यूरोपीय देशों ने एक लंबी अवधि के उपरान्त मध्यकाल के अंधकार युग को त्याग कर आधुनिक युग में दस्तक दी। पुनर्जागरण एक बौद्धिक आंदोलन था जिसकी शुरुआत 14वीं शताब्दी में इटली से हुई तथा 16वीं शताब्दी तक इसका प्रसार विभिन्न यूरोपीय देशों जैसे जर्मनी, ब्रिटेन आदि में हुआ।

पुनर्जागरण के विभिन्न पहलुओं में तार्किकता, मानवतावादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिक प्रगति आदि का विशेष महत्त्व है। इससे समस्त यूरोप में सामंतवाद के खंडहरों पर आधुनिकता का आविर्भाव हुआ।

> **अंधकार युग**
>
> तीसरी शताब्दी ई. में प्रसिद्ध रोमन साम्राज्य का विभाजन पूर्वी एवं पश्चिमी रोमन साम्राज्य में हो गया, जिसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया जबकि पश्चिमी रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम थी। जर्मन आक्रमणकारियों से त्रस्त पूर्वी रोमन साम्राज्य का 5वीं शताब्दी में अवसान हो गया और यही वह समय था जब यूरोप में मध्यकाल का प्रारंभ हुआ तथा सामंतवादी प्रवृत्ति विकसित हुई। मध्यकाल में मुख्य मापदंड थे- राजनीतिक सत्ता के रूप में राजतंत्र का पतन एवं सामंतवाद का उद्भव और विकास, धार्मिक सत्ता तथा सामंत में बेहतर तालमेल एवं उपभोग वर्ग के रूप में इसकी स्थिति, व्यापार-वाणिज्य का पतन तथा समस्त यूरोप में विकास के नाम पर गतिरोध उत्पन्न होना। आमतौर पर इसे अंधकार युग के नाम से जाना जाता है।

पुनर्जागरण के कारण *(Causes of Renaissance)*

पुनर्जागरण की शुरुआत में व्यापार एवं वाणिज्य कारकों का विशेष महत्त्व रहा है। भूमध्यसागरीय अवस्थिति का लाभ उठाकर इटली जैसे देश में व्यापार एवं वाणिज्य का विकास हुआ। परिणामत: मुद्रा अर्थव्यवस्था, व्यापारी वर्ग एवं शहरों का उदय हुआ। इटली में वेनिस, फ्लोरेंस, मिलान, नेपल्स आदि जैसे शहर अस्तित्व में आए। शहरों की इस स्थिति ने सामंतवादी व्यवस्था पर चोट की, क्योंकि ये शहरी केन्द्र, सामंतों एवं सामंतवादी तत्वों के हस्तक्षेप से वंचित होकर अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे। अपनी मजबूत आर्थिक स्थिति के आधार पर व्यापारी वर्ग कला एवं संस्कृति के उत्साही प्रश्रयदाता बन गए। उदाहरण के लिए इटली के फ्लोरेंस शहर के स्ट्रेजो एवं मेडिसी नामक व्यापारिक परिवार यूरोप में कलाकारों एवं विद्वानों के सबसे प्रसिद्ध आश्रयदाता थे। फलत: ज्ञान को प्रोत्साहन देकर इन व्यापारिक वर्गों ने रूढ़िवादिता, कूपमंडूकता एवं संकीर्ण मानसिकता वाले अंधे समाज को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होने में यथेष्ट योगदान दिया।

पुनर्जागरण को बढ़ावा देने में धर्मयुद्ध (क्रूसेड) की भूमिका सराहनीय रही। यरूशलम को लेकर ईसाइयों एवं सल्जुक तुर्कों (मुसलमानों) के मध्य होने वाले इस युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोपवासियों का पूर्वी देशों से संपर्क स्थापित हुआ तथा वैचारिक समन्वय स्थापित हुए। फलत: अरबी अंक, कागज, बीजगणित आदि का ज्ञान यूरोप के लोगों को हुआ तथा तर्कशक्ति एवं वैज्ञानिक खोजों को बढ़ावा मिला। इतना ही नहीं, धर्मयुद्ध में असफलता से चर्च एवं पोप की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। फलत: सामंतवादी व्यवस्था की इस मजबूत स्तंभ को जबर्दस्त आघात पहुँचा।

पुनर्जागरण को गति देने में कुस्तुनतुनिया के पतन का भी योगदान है। कुस्तुनतुनिया पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी थी जो ज्ञान-विज्ञान का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। 1453 ई. में तुर्कों द्वारा कुस्तुनतुनिया पर आधिपत्य स्थापित कर लिए जाने के क्रम में ज्ञान-विज्ञान का यह केन्द्र इटली के विभिन्न शहरों में स्थानांतरित हो गई तथा वहाँ बौद्धिक चेतना के नए प्रतिमान स्थापित हुए। दूसरी बात यह कि पूर्व के साथ होने वाले व्यापारिक मार्ग अवरुद्ध हो गए, फलत: पूर्व के देशों से व्यापारिक संबंध बनाने की दिशा में भौगोलिक खोजों की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया की शुरुआत हो गई। इसी क्रम में अमेरिका, भारत सहित विभिन्न एशियाई तथा अमेरिकी देशों की खोज हुई एवं नवीन व्यापारिक मार्ग अस्तित्व में आए। फलत: इन देशों की आर्थिक संवृद्धि में तीव्र वृद्धि हुई।

यद्यपि यूरोपवासियों को कागज की जानकारी तो मध्यकाल में ही अरबों से हो गई थी परन्तु इसका व्यापक प्रसार तब हुआ जब 15वीं शताब्दी में जर्मनी के गुटेनबर्ग ने प्रिंटिंग प्रेस का आविष्कार किया। इससे ज्ञान-विज्ञान की सामग्री पुस्तकाकार रूप में सर्वसुलभ हो पायी। वस्तुत: अभी तक ज्ञान का संकेंद्रण सीमित संस्थाओं (चर्च) एवं व्यक्तियों (पादरियों) तक ही था, परन्तु अब इसका वृहत क्षेत्र में प्रसार हुआ तथा लोग रूढ़िवादिता एवं कूपमंडूकता के साये से उबरकर प्रगति की वादियों में पल्लवित एवं पुष्पित होने लगे। इतना ही नहीं, विभिन्न स्थानीय भाषाओं में विभिन्न धार्मिक एवं धर्मेतर पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। फलत: लोगों का वास्तविक एवं

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सत्य ज्ञान से साक्षात्कार हुआ। उनमें जिज्ञासा, वैज्ञानिकता, तार्किकता जैसी चेतन शक्ति का विकास हुआ जिससे एक आदर्श बौद्धिक वातावरण के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की जा सकी।

13वीं शताब्दी में कुबलई खाँ के नेतृत्व में विशाल मंगोल साम्राज्य अस्तित्व में आया। उसका दरबार पूर्व एवं पश्चिम के विद्वानों का प्रसिद्ध मिलन केन्द्र था। फलत: यहाँ पूर्व-पश्चिम ज्ञान का एक आदर्श समन्वय वाली परिस्थिति उत्पन्न हो गई। प्रसिद्ध वेनिस यात्री मार्कोपोलो 1272 ई. में कुबलई खाँ के दरबार में आया था, जिसके यात्रा विवरण को जानकर पूर्व के देशों के ज्ञान-विज्ञान के बारे में यूरोपीय लोगों में जिज्ञासा बलवती होने लगी और इस प्रकार मौलिक चिन्तन का युग शुरू हुआ।

पुनर्जागरण के प्रभाव *(Effects of the Renaissance)*

पुनर्जागरण महज प्राचीन रोम एवं यूनान की गौरवपूर्ण अतीत की खोज एवं विश्लेषण तक ही सीमित नहीं था वरन् इसका दायरा नवीन परिप्रेक्ष्य में अत्यंत ही विस्तृत था जिसने तत्कालीन धर्म, राजनीति, समाज, साहित्य, विज्ञान एवं कला आदि सांस्कृतिक क्षेत्रों में वास्तविक चिन्तन जैसे तत्त्वों को तीव्रतर किया।

पुनर्जागरण काल में अंधविश्वास तथा तत्कालीन मध्ययुगीन रूढ़िवादी धर्म केन्द्रित व्यवस्था के घिनौने पक्ष पर तीखी टिप्पणी की गई। धर्म के हरेक पहलुओं को तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के पश्चात् ही स्वीकार किया जाता था। फलत: चर्च एवं पोप-पादरी के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों/नियमों को शक की नजर से देखा जाने लगा। अंतत: धर्मसुधार आंदोलन के रूप में यह परिकल्पना अपने स्पष्ट रूप में सामने आई जिसके परिणामस्वरूप ईसाई धर्म में खोखलेपन के विरुद्ध आंदोलन हुए।

वास्तव में यूरोप में मध्ययुग में सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत सामंत एवं पादरी वर्ग की विशिष्ट स्थिति थी। परन्तु पुनर्जागरण काल में नवीन परिस्थितियों में एक निरंकुश राजतंत्र की आवश्यकता महसूस की गई ताकि सामंती व्यवस्था की शोषणकारी एवं अराजकतावादी स्थिति पर काबू पाया जा सके। इस समय लोगों में राष्ट्रीय चेतना का व्यापक विकास हुआ। अंतत: शक्तिशाली राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ, जिन्होंने निरंकुश राजतंत्र की अगुवाई में स्पष्ट रूप धारण किए। मैकियावेली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द प्रिंस' में शक्तिशाली निरंकुश राजतंत्र की आवश्यकता एवं उसके औचित्य का सक्रिय समर्थन किया। इस समय लोगों में अद्भुत राष्ट्र प्रेम का विकास हुआ तथा स्थानीय भाषाओं के प्रसार से यह और मजबूत हुआ।

पुनर्जागरण काल में मानवतावादी दृष्टिकोण प्रबल रूप में सामने आया। इसके अंतर्गत मानव को ईश्वर की अनुपम कृति माना गया तथा संपूर्ण गतिविधियाँ मानवीय जीवन को बेहतर बनाने की ओर केन्द्रित की गईं। मनुष्य के इहलौकिक जीवन पर ही जोर दिया गया तथा साहित्य की विषय-वस्तु में मनुष्य के लौकिक जगत को प्राथमिकता दी गई। पेट्रार्क को पुनर्जागरण काल का सबसे पहला मानवतावादी माना जाता है। पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति के विभिन्न क्षेत्रों में मानवतावाद के लक्षण स्पष्ट हैं, जैसे साहित्य में मानव की समस्याओं एवं उसके सुखमय जीवन को प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया गया। इतना ही नहीं मनुष्य को अपनी चिंतन शक्ति तथा बुद्धि के कारण समस्त प्राणियों में प्रमुख के रूप में स्वीकार किया गया तथा यह माना गया कि ईश्वर द्वारा इनकी क्षमताओं को किसी सीमा में नहीं बांधा गया है। चित्रकला के क्षेत्र में भी मानवीय पहलुओं की अभिव्यक्ति को अप्रतिम रूप में प्रस्तुत किया गया, जिसका उदाहरण लियोनार्दो-द-विंची कृत 'मोनालिसा' का प्रसिद्ध चित्र है, जिसमें मानवीय संवेदनाओं को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। अंततोगत्वा मानव के नागरिक जीवन का महत्त्व बढ़ने लगा।

पुनर्जागरण काल में देसी भाषाओं का साहित्य लेखन में व्यापक उपयोग होने लगा। यद्यपि अभी तक लैटिन भाषा ही वह भाषा थी जिसमें साहित्य की रचना होती थी जो जन-सामान्य की भाषा नहीं थी परन्तु पुनर्जागरण काल में इटलवी, स्पेनी, फ्रांसीसी, अंग्रेज़ी, जर्मन आदि क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ तथा साहित्यिक भाषा के रूप में इसे सम्मानित स्थान मिला। फलत: अधिकतम लोग ज्ञान के वास्तविक रूप से अवगत हुए एवं स्वतंत्र तर्क बुद्धि का विकास हुआ। दाँते ने इटलवी भाषा में 'डिवाइन कॉमेडी' नामक महाकाव्य लिखा, जिसमें मुख्य रूप से मानव प्रेम, देश प्रेम एवं प्रकृति प्रेम का वर्णन किया गया। इसी आधार पर पेट्रार्क, जिसे मानवतावाद का जनक माना जाता है, ने इटालवी भाषा में लौकिक विषयों पर केन्द्रित काव्य की रचना की। हॉलैंड निवासी इरास्मस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द प्रेज ऑफ फॉली' (मूर्खता की प्रशंसा) में चर्च की बुराईयों का खूब मजाक उड़ाया। 'यूटोपिया' नामक अपनी प्रसिद्ध कृति में थॉमस मूर (इंग्लैंड निवासी) द्वारा एक आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया गया। राजनीति से संबंधित प्रसिद्ध पुस्तक 'द प्रिंस' में मैकियावेली द्वारा 'राज्य' की एक नवीन अवधारणा प्रस्तुत की गई जो स्वतंत्र एवं संप्रभुत्व संपन्न हो तथा राज्य एवं धर्म दोनों अलग-अलग क्षेत्र होने चाहिए। इसी तरह प्रसिद्ध स्पेनिश सर्वांतेस ने अपनी पुस्तक 'डॉन क्विजोट' में मध्यकालीन सामंती शूरवीरता की खिल्ली उड़ाई। अंग्रेज़ी भाषा के संबंध में फ्रांसिस बेकन एवं विलियम शेक्सपीयर का नाम अग्रगण्य है। शेक्सपीयर द्वारा सभी संभव मानवीय भावों, उसकी क्षमताओं एवं दुर्बलताओं को सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत किया गया है। इन समग्र प्रयासों से पुनर्जागरण काल में लगभग सभी यूरोपीय देशों में विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में मानवतावादी केन्द्रित साहित्यों की रचना की गई। फलत: यूरोप के विभिन्न भागों में विभिन्न भाषाओं द्वारा भाषायी एकता और अंतत: राष्ट्रीय भावनाओं का विकास संभव हो पाया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

पुनर्जागरण काल में विज्ञान के नए प्रतिमान स्थापित हुए। इससे पूर्व ज्ञान-विज्ञान पर चर्च एवं पोप का कड़ा नियंत्रण था। इस रूढ़िवादी व्यवस्था में प्रगतिशील विचारों का दमन किया जाता था तथा चर्च एवं पोप द्वारा प्रतिपादित प्राचीन विचारों एवं मान्यता के विरुद्ध नवीन विचार प्रस्तुत करना एक तरह से चर्च की सत्ता को चुनौती देने के समान थी। परन्तु पुनर्जागरण काल में वैज्ञानिक एवं तार्किक बुद्धि का विकास संभव हो पाया। पोलैण्ड के प्रसिद्ध खगोलशास्त्री कॉपरनिकस द्वारा दिया गया यह विचार कि 'पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है', कालान्तर में गैलीलियो द्वारा आविष्कृत दूरबीन से इस सिद्धान्त की पुष्टि हुई। जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक केपलर द्वारा विभिन्न ग्रहों की गतियाँ एवं उसके कक्षाओं के बारे में नियम प्रस्तुत किया गया। आगे चलकर इंग्लैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइज़क न्यूटन ने खगोलीय पिंडों के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। चिकित्सा के क्षेत्र में बेल्जियम के प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक वेसेलियस द्वारा शल्य चिकित्सा की विशेष जानकारी प्रस्तुत की गई तथा साथ ही प्रथम बार मानव शरीर की रचना क्रिया के बारे में पूर्ण जानकारी प्रस्तुत की गई। रक्त परिसंचरण के बारे में इंग्लैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक विलियम हार्वे द्वारा विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई। इतना ही नहीं 13वें पोप ग्रेगरी द्वारा लीप वर्ष के आधार पर सौर वर्ष को प्रस्तुत किया गया जो ग्रेगरी कैलेण्डर के रूप में अभी मान्यता प्राप्त है।

पुनर्जागरण काल में कला के रूप में चित्रकला एवं वास्तुकला का यथेष्ट विकास हुआ जो मूलतः मानवीय पहलू पर केन्द्रित था। चित्रकला में मानव शरीर के विभिन्न अंगों को अत्यंत ही बारीक ढंग से प्रस्तुत किया गया। लियोनार्दो-द-विंची की अनुपम कृति 'द लास्ट सपर' एवं 'मोनालिसा' विश्व प्रसिद्ध चित्र है। चित्र निर्माण हेतु तैल पेंटिंग (Oil Painting) का प्रयोग किया गया। इस समय माइकेल एंजेलो द्वारा निर्मित 'डेविड' एवं 'पियथा' मूर्तिकला के मशहूर नमूने हैं। इटली में प्रसिद्ध चित्रकार राफेल था जिसने यीशु मसीह की माँ मेडोना के प्रसिद्ध चित्र बनाए। ये सभी कृति मानवता से ओत-प्रोत थीं। इस समय स्थापत्य के क्षेत्र में गोथिक स्थापत्य कला का अवसान हुआ। कमानी छतें, नुकीले मेहराब एवं टेके पुनर्जागरणकालीन स्थापत्य की प्रधान विशेषताएँ थीं। इस संबंध में रोम के संट पीटर का प्रसिद्ध गिरजाघर नई शैली का प्रसिद्ध स्थापत्य है।

अंततः हम कह सकते हैं कि यूरोप में पुनर्जागरण के प्रसार के फलस्वरूप प्रगतिशील विचारों को सम्मान मिला और मानवतावादी दृष्टिकोण विकसित हुआ। सामंतवाद का पतन, राष्ट्र राज्यों का उदय, राष्ट्र प्रेम, व्यापारिक एवं वाणिज्यिक उन्नति तथा भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विकास हुआ, धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध धर्मसुधार आंदोलन हुए, तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास हुए जिसके परिणामस्वरूप कालांतर में औद्योगिक क्रांति संभव हो पाई। इन सारे प्रगतिशील तत्त्वों का बीजारोपण मूलतः पुनर्जागरण काल में ही संभव हो पाया तथा विभिन्न यूरोपीय देशों ने मुख्य रूप से प्रगतिशील विचारों की विश्वस्तर पर अगुवाई की।

धर्मसुधार आंदोलन *(Religious Reform Movement)*

धर्मसुधार आंदोलन से अभिप्राय कैथोलिक ईसाई धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों एवं रूढ़िवादिता के विरुद्ध उस आंदोलन से है जो पुनर्जागरण के उत्तरवर्ती काल में ईसाई जगत में हुआ था। यह आंदोलन धर्म के साथ-साथ तत्कालीन राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था से भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। इस आंदोलन के फलस्वरूप ईसाई धर्म में विभाजन हो गया—प्रोटेस्टेंट धर्म एवं कैथोलिक धर्म। विभिन्न यूरोपीय देशों ने रोमन कैथोलिक चर्च से संबंध तोड़ लिए एवं वहाँ पृथक चर्च की स्थापना हुई, जिसे आमतौर पर प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इतना ही नहीं, कैथोलिक धर्म में सुधार की आवश्यकता को महसूस कर विभिन्न कारगर कदम भी उठाए गए और इस रूप में यह आंदोलन कैथोलिक धर्म सुधार आंदोलन या प्रति धर्म सुधार आंदोलन के नाम से भी लोकप्रिय हुआ।

आंदोलन की पृष्ठभूमि *(Background of Movement)*

- मध्य काल में सामंतवाद एवं चर्च नामक दो समानांतर एवं संबद्ध सत्ता का प्राधान्य था। ईसाई कैथोलिक चर्च रोम के पोप की अगुवाई में एक व्यवस्थित श्रेणीबद्ध संगठन के रूप में परिवर्तित हो गई थी, जिसे आमतौर पर 'पोप के राजतंत्र' के नाम से जाना जाता था। यह एक ऐसी प्रभुसत्ता संपन्न स्थिति का द्योतक था, जो संपूर्ण ईसाई जगत में सामाजिक एवं धार्मिक सर्वेसर्वा का दावा करता था। चर्च में पोप का स्थान सबसे ऊँचा था जिसे पृथ्वी पर ईसा मसीह का प्रतिनिधि माना जाता था। रोम स्थित पोप संपूर्ण ईसाई जगत का प्रमुख होता था। पोप के अधीन ईसाई जगत के चर्च एवं धार्मिक सत्ता से जुड़े सभी पक्ष एक ऐसी बोझिल एवं उबाऊ परिस्थिति को बढ़ावा दे रहे थे, जिससे जनमानस में विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित होने लगी थी। व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक की अवधि को विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों से आबद्ध कर दिया गया था। ऐसी व्यवस्था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को वर्ष में कम से कम एक बार मौखिक रूप से अपने पाप को स्वीकार करना पड़ता था तथा तदनुसार दंड का भागी बनना बाध्यकारी था। इस व्यवस्था की अवहेलना करना धर्म एवं समाज से बहिष्कृत होना था। यह एक ऐसी युक्ति थी जिससे जनमानस धार्मिक आडंबर की आड़ में दबे जा रहे थे। इस संदर्भ में एक घृणित बात और भी थी जो आमतौर पर 'संस्कार' के नाम से जानी जाती थी, जिसके अंतर्गत मुख्यतः तीन संस्कार की व्यवस्था थी—नाम-संस्कार, पाप स्वीकार-संस्कार एवं परम प्रसाद-संस्कार। धार्मिक आडंबर का एक और भी महत्वपूर्ण पहलू था- जादू-टोने और अलौकिक सत्ता में आस्था वाली सड़न व्यवस्था का प्रचलन।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

चर्च जैसी धार्मिक संस्था में विभिन्न पदों पर आसीन पादरियों अथवा धर्माधिकारियों में अनैतिकता का बोलबाला था। विभिन्न धार्मिक पदों की बिक्री होती थी तथा नव पदासीन व्यक्ति अच्छी आमदनी के विभिन्न तरीके अपनाते थे। विभिन्न संस्कारों जैसे पाप स्वीकार संस्कार एवं मृत्यु प्रमाणपत्र बेचे जाने के एवज में अच्छी कमाई होती थी। इसके अतिरिक्त चर्च द्वारा नियत धर्मानुसार आचरण न करने पर व्यक्ति की संपत्ति जब्त कर ली जाती थी तथा धार्मिक मान्यताओं का विरोध किए जाने पर धर्म विरोधियों को खूँटों से बांधकर जिंदा जला दिया जाता था। वास्तव में मृत्यु प्रमाणपत्र का मुद्दा एक ऐसे संवेदीशील मुद्दे के रूप में मुखरित हुआ कि यह प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार आंदोलन के रूप में भड़क उठा।

प्रोटेस्टेंट आंदोलन *(Protestant Movement)*

1517 ई. में मार्टिन लूथर जो जर्मनी के विटेनबर्ग स्थित सेंट अगस्तीन के साधु थे, ने प्रचलित दंडमोचन पत्रों के विरुद्ध खुले आम विद्रोह कर दिया और विटेनवर्ग के चर्च के गेट पर 95 कथनों से युक्त लेख को टांग दिया। यह एक ऐसा संवेदनशील धार्मिक मामला था जिसने संपूर्ण ईसाई जगत में तहलका मचा दिया।

लूथर को धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया परन्तु जर्मनी के कई शासकों द्वारा लूथर के इस कदम का समर्थन किया गया। लूथर द्वारा कैथोलिक चर्च के तत्कालीक सभी मापदंड को अस्वीकार कर जर्मनी में एक स्वतंत्र जर्मन चर्च की स्थापना की गई। इस नवीन चर्च में जर्मन भाषा का प्रयोग किया गया, मठों की व्यवस्था समाप्त हुई एवं पादरियों को दैवी अधिकारों से वंचित होना पड़ा।

वस्तुत: धर्म को लेकर धर्मसुधार आंदोलन का सूत्रपात तो हुआ परन्तु इसके पीछे राजनीतिक एवं आर्थिक तत्त्वों की भी महती भूमिका रही। पुनर्जागरण के क्रम में यूरोप में राष्ट्रीय चेतना पर आधारित राष्ट्रीय राज्यों के उदय की पृष्ठभूमि तैयार हुई। फलत: मध्यकालीन सामंती व्यवस्था एवं चर्च के विरुद्ध तत्कालीन राष्ट्रीय राज्यों एवं व्यापारिक वर्गों का संघर्ष हुआ। शासकों द्वारा अपनी राज्य सीमाओं के अंतर्गत पूर्ण शक्ति संपन्न प्रभुसत्ता का दावा किया गया तथा इस राजनीतिक सीमाओं के अंतर्गत राज्यों के चर्च तथा पुरोहित वर्गों पर मजबूत नियंत्रण स्थापित करने प्रयास किया गया। चर्च तथा उससे जुड़े व्यक्तियों के पास अकूत संपत्ति का संचय था, जिसे हड़पकर राजाओं द्वारा राजनीतिक शक्ति को और बेहतर तरीके से संचालित किया जा सकता था और इसमें सबसे बड़ी बात थी कि इसकी आवश्यकता अनिवार्य रूप से महसूस की जा रही थी। इतना ही नहीं, चर्च की यह असीमित संपत्ति कर मुक्त थी तथा कर का मुख्य भार व्यापारिक वर्ग एवं नवपूंजीपति वर्ग पर ही था। अत: स्वाभाविक रूप से राजा एवं व्यापारी वर्ग, सामंत एवं चर्च के प्रबल विरोधी के रूप में उभरे। अत: धर्मसुधार आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू उसका तत्कालीन राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष भी था, जिसने इस आंदोलन में उत्प्रेरक का काम किया।

जर्मनी में लूथर के नेतृत्व में सफल प्रोटेस्टेंट आंदोलन से प्रेरित होकर विभिन्न देशों में चर्च की तत्कालीन सत्ता के विरुद्ध तीव्र विद्रोह प्रारंभ हो गए, जिसकी समय एवं स्थान के अनुरूप अपनी खास विशिष्टताएँ भी थीं। इस दृष्टि से स्विट्जरलैंड में ज्विंगली एवं काल्विन के नेतृत्व में प्रोटेस्टेंट धर्मसुधार आंदोलन हुआ जिसे वहाँ व्यापक समर्थन मिला। इसके अतिरिक्त इंग्लैंड एवं अमेरिका में प्यूरिटन, फ्रांस में ह्यूगेनॉट प्रोटेस्टेंट आंदोलन संपन्न हुए। इस समय डेनमार्क, स्वीडन एवं नार्वे जैसे स्कैंडेनेवियन देशों में लूथर के विचारों को जबर्दस्त समर्थन मिला तथा राजकीय चर्च के रूप में प्रोटेस्टेंट लूथरीय चर्च की स्थापना हुई। वस्तुत: विभिन्न देशों ने कुछ विशिष्ट कारणों से तत्कालीन प्रोटेस्टेंट आंदोलन को तीव्र किया। उदाहरण के रूप में इंग्लैंड में तलाक विषयों पर तत्कालीन राजा हेनरी अष्टम एवं पोप में विवाद हो गया और हेनरी द्वारा खुद को चर्च का प्रमुख घोषित किया गया। अंतत: कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट के मध्य यह विवाद इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के प्रयासों से समाप्त हुआ जब वहाँ राजकीय चर्च के रूप में इंग्लैंड के चर्च की स्थापना की गई।

कैथोलिक धर्मसुधार *(Catholic Religious Reform)*

बदलते परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यकता महसूस की गई कि कैथोलिक चर्च में भी आवश्यक सुधार किया जाना चाहिए। इसी आवश्यकता के अनुरूप स्पेन में जहाँ प्रोटेस्टेंट की स्थिति काफी कमजोर थी, वहाँ 'जेसुइट' नामक पुजारियों का एक संगठन कैथोलिक संघ के रूप में अस्तित्व में आया। जेसुइट संघ द्वारा कैथोलिक चर्च में सुधार के हर संभव प्रयास किए गए तथा इस चर्च को मजबूत करने हेतु विभिन्न देशों में जेसुइट विद्यालय की स्थापना की गई।

धर्म सुधार आंदोलन के कुछ सह उत्पादक तत्त्व भी प्रकाश में आए, जैसे धर्म के नाम पर प्रोटेस्टेंट-कैथोलिक संघर्ष ने आंतरिक कलह एवं युद्धों को बढ़ावा दिया। इस रूप में 1560-1630 ई० में डाइनों का सफाया किया गया जिसकी आड़ में कई बेकसूर स्त्रियों पर डाइन होने का आरोप लगाकर उसे जिंदा जला दिया गया। फ्रांस में सोलहवीं शताब्दी में आठ धार्मिक युद्ध हुए। धार्मिक उत्पीड़न से तंग आकर इंग्लैंड के प्यूरिटन उत्तरी अमेरिका में जा बसे तथा वहाँ एक विकसित सभ्यता के विकास में योगदान दिए। इतना ही नहीं इंग्लैंड में राजसत्ता तथा चर्च के विरुद्ध 1642 में होने वाले गृहयुद्ध में प्यूरिटन (नव मध्यम वर्ग) के समर्थन से संसद की सर्वोच्चता स्थापित हुई और राजा चार्ल्स प्रथम की हत्या कर दी गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि धर्मसुधार आंदोलन ईसाई धर्म में व्याप्त विभिन्न कुरितियों के विरुद्ध सुधार के मुद्दे पर शुरू हुए परन्तु शीघ्र ही इसका स्वरूप राजनीतिक एवं आर्थिक तत्त्वों द्वारा निर्धारित होने लगा। अत: धर्मसुधार आंदोलन का दायरा काफी विस्तृत था। इसने पुनर्जागरण के उत्तरवर्ती काल अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के अंतिम समय में तत्कालीन नवोदित निरंकुश राजतंत्र को मजबूत आधार प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रबोधन *(Enlightenment)*

17वीं-18वीं शताब्दी में होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप यूरोप में वैज्ञानिक चेतना, तर्क, विवेक, मानवतावादी दृष्टिकोण एवं अन्वेषण की नवीन प्रवृत्ति ने परिपक्व अवस्था को प्राप्त किया और यही परिपक्व अवस्था प्रबोधन के नाम से जानी जाती है। यह एक **बौद्धिक** क्रांति थी, जिसका आधार पुनर्जागरण, धर्मसुधार आंदोलन एवं वाणिज्यिक क्रांति ने तैयार किया था। प्रबोधन रूपी ज्ञानोदय की इस स्थिति ने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी दुनिया में हुए विभिन्न क्रांतिकारी घटनाओं जैसे- अमेरिकी क्रांति, फ्राँसीसी क्रांति एवं नेपोलियन बोनापार्ट के सैनिक अभियान, जिसका दुनिया पर व्यापक असर पड़ा, को प्रेरित किया। प्रबोधनकालीन चिंतकों ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि भौतिक दुनिया एवं प्रकृति में होने वाली घटनाओं के पीछे किसी न किसी व्यवस्थित, अपरिवर्तनशील, शाश्वत एवं प्राकृतिक नियम का हाथ है। अगर हम ये कहें कि प्रबोधन अथवा ज्ञानोदय केपलर, गैलिलियो एवं न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों के आविष्कारों के कारण संभव हो सका तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रबोधन की प्रमुख विशेषताएँ *(Major Characteristics of the Enlightenment)*

(i) **अनुभूतिमूलक ज्ञान-** इसके अंतर्गत ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव होने वाले ज्ञान ही हमारे ज्ञान का वास्तविक स्रोत है। इस संबंध में जन्मजात विचार एवं ईश्वरीय सत्य नाम की कोई चीज नहीं है।

(ii) **ज्ञान-विज्ञान में अंर्तवैयक्तिक संबंध-** प्रबोधन युग में मुख्यत: ज्ञान का प्राकृतिक विज्ञान के साथ अंत:संबंध स्थापित हुआ। प्रबोधन चिंतकों द्वारा सत्य तक पहुँचने का सक्षम आधार पर्यवेक्षण, प्रयोग एवं आलोचनात्मक छानबीन की व्यवस्थित पद्धति को स्वीकार किया गया। यह स्वीकार किया गया कि ज्ञान, प्रयोग एवं परीक्षण योग्य होनी चाहिए। इसी धारणा पर प्रबोधन युग में पराभौतिक अनुमान एवं ज्ञान में अंतर किया गया। वस्तुत: मध्यकाल में ईसाईमत का प्रभाव इसलिए स्वीकार किया जाता था क्योंकि यह माना जाता था कि ईश्वरकृत इस दुनिया को जान पाना मनुष्य के वश की बात नहीं है। परन्तु, प्रबोधन काल में विकसित ज्ञान ने इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया एवं यह दावा किया कि जिन चीजों को बुद्धि के प्रयोग एवं व्यवस्थित पर्यवेक्षण से नहीं जाना जा सकता है वे मायावी हैं। मानव ब्रह्माण्ड के रहस्यों को पूर्णरूपेण समझने में सामर्थ्यवान है। प्रकृति के बारे में रूढ़िवादी एवं धार्मिक पवित्र पुस्तकों के माध्यम से नहीं बल्कि प्रयोगों एवं परीक्षणों के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

(iii) **कार्य-कारण संबंध का अध्ययन-** प्रबोधनकालीन चिन्तन का केन्द्रीय तत्त्व था- कार्य-कारण संबंध का अवलोकन। समकालीन चिंतकों ने मुख्यत: पूर्ववर्ती घटना को रेखांकित करने की कोशिश की, जो किसी परिघटना के उत्पन्न होने के लिए अनिवार्य था। अर्थात् पूर्ववर्ती घटना के न होने से परवर्ती घटना उत्पन्न नहीं होती है।

(iv) **मानवतावादी दृष्टिकोण-** मनुष्य को स्वभाव से एक विवेकशील एवं विनम्र प्राणी स्वीकार किया गया। प्रबोधनयुगीन चिंतकों ने मानव की खुशी एवं भलाई पर जोर दिया। मनुष्य को स्वार्थी धर्माधिकारियों के नियंत्रण से मुक्त कर एक आदर्शवादी समाज के निर्माण हेतु प्रयास करने को प्रोत्साहन दिया गया। प्रबोधनकालीन चिंतकों ने इस बात को जोरदार रूप में सामने रखा कि यह संसार मशीन की तरह है जिसका नियंत्रण एवं संचालन कुछ खास नियमों के अनुसार ही होता है। इसका उद्देश्य व्यक्तियों को अपने पर्यावरण पर नियंत्रण स्थापित करने में सामर्थ्यवान बनाना था ताकि वे प्राकृतिक शक्तियों की विध्वसात्मक शक्तियों से अपनी रक्षा कर सकें।

(v) **देववाद-** सृष्टि या विश्व कहा जाने वाला यह आश्चर्यजनक तंत्र किसी संयोग का परिणाम न होकर किसी अनंत दैवीय शक्ति ने इसे बनाया एवं अग्रसर किया होगा। फिर भी मनुष्य का सीमित मस्तिष्क इस अनंत को नहीं जान सकता। अपने आदर्श यांत्रिक नियमों को संचालित करने के पश्चात् ईश्वर न तो इन नियमों एवं न ही मनुष्य के मामले में कभी हस्तक्षेप करेगा।

(vi) **प्रकृति की अच्छाई-** प्रकृति अपने सरल रूप में उत्तम एवं सुन्दर है। मनुष्य ने इसे अपने जटिल सामाजिक एवं आर्थिक प्रतिबंधों के द्वारा भ्रष्ट बना दिया है। प्रकृति की ओर लौटना हितकर, उत्साह एवं स्वतंत्रता की ओर लौटना है।

प्रबोधनकालीन विचारक *(Enlightenment Thinkers)*

(i) **रूसो: (1712-1778)** - प्रबोधनकालीन विचारकों में रूसो का नाम सर्वाधिक अग्रगण्य है। वह इस युग का सर्वाधिक मौलिक एवं संभवत: सबसे अधिक प्रभावशाली लेखक व विचारक था। 'सोशल-कांट्रेक्ट' एवं 'सकेंड डिस्कोर्स' नामक अपनी पुस्तकों में उसने एक प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की जब मनुष्य स्वतंत्र, समान एवं प्रसन्न था। परन्तु, बाद में जैसे-जैसे व्यक्तियों तथा परिवारों का पारस्परिक संपर्क बढ़ा, प्रतियोगिता एवं पक्षपात की धारणाएँ प्रबल होने लगीं। कृषि, उद्योग तथा व्यक्तिगत

Copyright - Drishti The Vision Foundation

भूसंपत्ति के साथ प्राकृतिक क्षमता विलीन हो गई और उसकी जगह असमानता, अन्याय तथा शोषण का प्रादुर्भाव हुआ। क्रमिक रूप से अमीर एवं गरीब का भेद पराकाष्ठा पर पहुँच गया तथा दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हो गए। इस अशांति को समाप्त करने हेतु एवं अपनी खोई हुई स्वतंत्रता तथा आनन्द की पुनः प्राप्ति हेतु एक-दूसरे में समझौता हुआ और इस प्रकार सरकार या राज्य का जन्म हुआ। रूसो ने बताया कि संप्रभुता जनता में अंतर्निहित है। कानून जनता की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है न कि राजा का आदेश। सरकार तभी तक कायम रह सकती है जब तक वह समझौते के नियमों का अनुपालन करती है। अतः इस स्थिति में जनता को यह अधिकार है कि समझौते के उल्लंघन करने वाली सरकार को उखाड़कर नई सरकार स्थापित कर ले। अतः इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रजातंत्र की खुली उद्घोषणा इससे बेहतर कहीं और नहीं मिलती। फ्राँसीसी क्रांति के विभिन्न चरणों पर इस विचारधारा का व्यापक असर पड़ा। रूसो ने समानता एवं स्वतंत्रता को समाज के संगठन का आधार बताया। समानता पर बल देने के कारण ही आधुनिक समाजवादी भी उसे अपने विचारों का समर्थक मानते हैं।

(ii) **कांट (1724-1804)** - यह एक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक था। प्रबोधन परंपरा के लेखकों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसने मूलतः प्राकृतिक विज्ञान में रुचि दिखाई। अपने दार्शनिक लेखों में उसने इस बात पर विशेष जोर दिया कि नैतिक कर्त्तव्यों को किस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित किया जाए। इस संबंध में उसने धर्म एवं दिव्य ज्ञान को अस्वीकार किया। समस्याओं के समाधान के संदर्भ में उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। कांट के अनुसार, यदि मनुष्य को नैतिक संकल्प के अनुसार जीत की स्वतंत्रता दे दी जाए तो वह स्वतंत्र हो जाएगा। मनुष्य की नैतिकता की प्रकृति सार्वभौमिक है। उसके विचारानुसार जब हम यह नहीं जान पाते हैं कि ईश्वर का आस्तित्व है, तब हमारी नैतिक चेतना हमें ईश्वर के अस्तित्व की पहचान करवाती है। कांट के विचार में प्राकृतिक विज्ञान की संकल्पना कुछ सत्य की अनुपस्थिति में ईश्वर की संकल्पना को स्वीकृत करती है। कांट ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया। व्यक्ति राज्य के नियंत्रण में नहीं है, राज्य का कार्य व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना है। उसने लोक संप्रभुता का विचार प्रस्तुत किया तथा इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक व्यवस्था लोक इच्छा पर आधारित होना चाहिए।

(iii) **मॉण्टेस्क्यू (1689-1755)** - यह 18वीं शताब्दी का प्रसिद्ध फ्राँसीसी विचारक था, जिसने सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में मौलिक योगदान दिया। वह इंगलैंड के स्वतंत्र वातावरण से विशेष रूप से प्रभावित था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग सरकार अनुकूल होती है। उदाहरणस्वरूप विशाल देश हेतु निरंकुश राजतंत्र, फ्राँस जैसे मध्यम दर्जे के देश में सीमित राजतंत्र एवं स्विट्जरलैंड जैसे छोटे देश हेतु गणतंत्रीय शासन प्रणाली उपयुक्त होगा। उसने न केवल लॉक के सीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन किया वरन् यह भी बताया कि कैसे शक्ति के पृथक्करण एवं नियंत्रण तथा संतुलन के नियमों द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्पिरिट ऑफ लॉ' में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसमें उसने इस बात पर बल दिया कि शासन के तीन अंगों- कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका और इन तीनों को एक-दूसरे से पृथक एवं समान रूप से शक्तिशाली होना चाहिए। अर्थात् शासन के अंगो का कार्यक्षेत्र सुनिश्चित, सीमित तथा स्वतंत्र होना चाहिए। इसके पीछे तर्क यह था कि यदि शासन की विभिन्न शक्तियाँ एक ही अंग में केंद्रित हो गई तो नागरिकों की स्वतंत्रता कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकती। राजनीतिशास्त्र के प्रति मांटेस्क्यू की यह महान देन थी। अमेरिकी संविधान में पृथक्करण के सिद्धान्त को लिखित रूप में अपनाया गया।

(iv) **वाल्टेयर (1694-1778)** - 18वीं शताब्दी के फ्राँसीसी लेखकों में वाल्टेयर का नाम उल्लेखनीय है। वह बौद्धिक स्वतंत्रता का समर्थक, एक महान लेखक, कवि, दार्शनिक, नाटककार एवं व्यंग्यकार था। वह मनुष्य के वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक अधिकारों का प्रबल पोषक था। आधुनिक समालोचकों ने उसे 'संपादकों का राजा' की उपाधि दी जिसका आशय यह है कि उसके लेखन में मौलिकता कम है परन्तु रोचकता एवं चित्र ग्राहकता अधिक है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक- 'लुई 14वें का युग', 'बदनाम चीजों को नष्ट कर दो' आदि महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्येक प्रकार के शोषण और अंधविश्वास की व्यंग्यपूर्ण एवं कटु आलोचना करता था। यद्यपि धर्म के मामलों में वह आस्तिक था परन्तु वह चर्च का कट्टर विरोधी था। वस्तुतः जीवन के अंतिम वर्षों में उसका उद्देश्य चर्च का विध्वंस करना ही रह गया था। हम यह कह सकते हैं कि चर्च के प्रति विरोध का मूल प्रतिपादक वाल्टेयर ही था।

(v) **जॉन लॉक (1632-1704)** - यह एक प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक था। उसका कहना था कि सभी व्यक्ति को कुछ प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं जैसे- जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार आदि। उसके अनुसार मनुष्य ने अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा हेतु सरकार की स्थापना की। परन्तु, जब सरकार अपने इस कर्त्तव्य का पालन करने से मुकर जाए तो जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। अर्थात् लॉक ने राज्य के सीमित संप्रभुता के सिद्धात का प्रतिपादन किया। लॉक के इस विचार को अमेरिकी संविधान के प्रस्तावना तथा फ्राँसीसी क्रांति में मानव एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा में भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस प्रकार लॉक ने सामंती शासन प्रणाली पर चोट कर जनतांत्रिक सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक- एन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग (An Essay Concerning Human Understanding) है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

(vi) **एडम स्मिथ (1723-1790)** - यह स्कॉटिश अर्थशास्त्री था जिसने किसी भी राष्ट्र की समृद्धि के लिए व्यवसाय की स्वतंत्रता पर जोर दिया। इसके अनुसार व्यवसायियों को किसी भी तरह के धंधे तथा मजदूरों को किसी भी तरह की नौकरी की छूट होनी चाहिए। मूल्य एवं गुणवत्ता का निर्धारण बाजार की प्रतियोगिता के आधार पर होनी चाहिए न कि सरकारी नियंत्रण की नीति के आधार पर।

15वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में वाणिज्यवाद पश्चिमी यूरोप का सबसे प्रबल सिद्धांत के रूप में उभरा। नियंत्रित अर्थव्यवस्था की यह पद्धति 17वीं शताब्दी में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। इस समय केवल हॉलैण्ड ही स्वतंत्र व्यापार को अपनाए हुए था। प्रबुद्धवादी दार्शनिकों ने तर्क दिया कि यदि दुनिया कुछ सामान्य यांत्रिक नियमों से चलती है, तो अर्थशास्त्र का भी कुछ सामान्य प्राकृतिक नियम होगा ही। 1776 में एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशंस' में प्रसिद्ध लैसेज फेयर (मुक्त व्यापार) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के अधीन मांग-पूर्ति के नियम पर काम करती है। ये नियम तभी अपने सर्वोत्तम रूप में चल सकती है जब व्यवसाय को सरकारी नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाय। इस सिद्धान्त ने अमेरिकी एवं फ्रांसीसी क्रांति के नेताओं को विशेष रूप से प्रभावित किया।

प्रबोधन का प्रभाव *(Effects of the Enlightenment)*

प्रबोधन का प्रभाव अत्यंत ही व्यापक था। प्रचलित निरंकुश, स्वेच्छाचारी, स्वार्थी एवं दमनशील राजत्व के स्थान पर उदार, लोकहितकारी, प्रबुद्ध एवं सर्वसाधारण के कल्याण हेतु राजत्व अस्तित्व में आए। यूरोप में अनेक ऐसे शासक हुए जिन्होंने अपने देश की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को नए विचारों के अनुसार ढालने की हरसंभव कोशिश की। अब शिक्षा का प्रसार, कृषक दासों का उत्थान, साहित्य का विकास, कठोर दंड-विधान में सुधार, निर्धनता उन्मूलन, कानूनों का स्पष्टीकरण आदि जैसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। अर्थात् कुल मिलाकर निरंकुश राजतंत्र पर चोट हुई एवं लोकप्रिय सरकारों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

तर्क का प्रयोग करते हुए इस युग के प्रबुद्धवादियों ने सामाजिक असमानता, शोषण एवं अत्याचार का सामना करने हेतु जनसाधारण को प्रेरित किया। 18वीं शताब्दी के मध्य से विभिन्न यूरोपीय देशों में समाचार पत्रों का प्रकाशन शुरू हुआ जिसके माध्यम से प्रबोधनकालीन नवीन विचारों व दृष्टिकोणों का प्रसार हुआ एवं लोगों ने इस नवीन परिवर्तनों को अंगीकार किया। प्रबोधन के फलस्वरूप लोकतंत्रात्मक एवं कल्याणकारी राज्य की अवधारणा सामने आई। राज्य को विकास एवं प्रगति का प्रमुख उपकरण माना गया। रूसो, मांटेस्क्यू एवं वाल्टेयर की राज्य संबंधी विभिन्न परिकल्पनाएँ समाज कल्याण की प्रमुख गारंटी मानी गई।

अतः हम कह सकते हैं कि प्रबोधन यूरोप से शुरू होकर संपूर्ण विश्व को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेट लिया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-2

अमेरिकी क्रांति
(American Revolution)

(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)

सामान्य परिचय *(General Introduction)*

1492 ई. में स्पेन निवासी कोलंबस द्वारा अमेरिका की खोज की गई। विकास की अपार संभावनाओं के कारण इस क्षेत्र विशेष में यूरोपीय देशों की दिलचस्पी बढ़ने लगी। 18वीं शताब्दी के मध्य तक उत्तरी अमेरिका के अटलांटिक तट के समीपवर्ती क्षेत्रों में ब्रिटेन के अधीन 13 उपनिवेश अस्तित्व में आ चुके थे। ये विविध उपनिवेश एक मिश्रित संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत कर रहे थे, जिसमें ब्रिटेन, फ्राँस, जर्मनी, हॉलैण्ड, पुर्तगाल आदि देशों के भूमिहीन किसान, धार्मिक स्वतंत्रता के आकांक्षी, व्यापारी एवं बिचौलिए आदि जाकर बस गए थे। भौगोलिक दृष्टि से अमेरिका का उत्तरी भाग मत्स्य पालन हेतु, मध्यवर्ती भाग शराब तथा चीनी उद्योग हेतु एवं दक्षिणी भाग कृषि कार्य के लिए समृद्ध क्षेत्र था। यहाँ अंग्रेज जमींदारों के अधीन बड़े-बड़े कृषि फार्म थे, जिसमें अफ्रीकी गुलामों की सहायता से खेती (विशेषकर तंबाकू एवं कपास की खेती) की जाती थी।

अमेरिका स्थित कुल 13 ब्रिटिश उपनिवेशों के प्रत्येक उपनिवेश में शासन का संचालन गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति के अधीन विधानसभा द्वारा होता था। गवर्नर ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। गवर्नर की नियुक्ति ब्रिटिश सत्ता द्वारा होती थी एवं उसकी कार्यकारिणी समिति में ब्रिटिश ताज द्वारा मनोनीत सदस्य होते थे जबकि विधानसभा का गठन विशिष्ट मतदाताओं द्वारा निर्वाचन के फलस्वरूप होता था, जो मुख्य रूप से स्थानीय विषयों से संबंधित कानून के निर्माण के साथ-साथ कर (Tax) भी लगाती थी। अंततः इस शासन व्यवस्था में अंतिम और निर्णायक नियंत्रण ब्रिटिश सत्ता का ही होता था। वास्तव में ब्रिटिश हितों को ही प्राथमिकता दी जाती थी।

18वीं शताब्दी में इन उपनिवेशों के संबंध में कुछ आपत्तिजनक कानूनों व अन्य परिस्थितियों ने उपनिवेश की जनता में असंतोष एवं घृणा को बढ़ावा दिया तथा जनता इस शोषणकारी औपनिवेशिक नीति के विरुद्ध उठ खड़ी हुई और अंततः उपनिवेशवासियों का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित हुआ।

अमेरिकी क्रांति के कारण *(Causes of American Revolution)*

अमेरिकी क्रांति के लिए आर्थिक मामलों में ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति काफी हद तक जिम्मेदार रही। ब्रिटेन द्वारा स्वहित को विशेष प्राथमिकता दी गई तथा उपनिवेश के हितों की पूर्ण अनदेखी की गई। 1651 ई. में नेविगेशन एक्ट के तहत उपनिवेशों को व्यापार करने हेतु ब्रिटेन और आयरलैंड के अतिरिक्त किसी दूसरे देश के जहाजों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया। व्यापारिक अधिनियम के तहत प्रावधान था कि इन उपनिवेशों में उत्पादित होने वाले कपास, चीनी एवं तबाकू का निर्यात सिर्फ ब्रिटेन को ही किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में, यह व्यवस्था उपनिवेशों के हितों के विपरीत ब्रिटेन के हितों के कहीं ज्यादा समीप थी। इस आड़ में इन वस्तुओं की कीमत कम-से-कम मूल्य पर निर्धारित की जाती थी, जो कि अन्यायपूर्ण था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन में निर्मित सामान या तो बिना तटकर या अत्यंत ही कम तटकर चुका कर उपनिवेशों में उतारा जाता था जबकि अन्य देशों के सामान पर भारी तटकर लगाया जाता था। उपनिवेश की जनता को इससे भी भारी परेशानी होती थी। इतना ही नहीं, इन उपनिवेशों को सूती वस्त्र एवं लौह उद्योग स्थापित करने की पूर्ण रूप से मनाही थी तथा इस आवश्यकता की पूर्ति ब्रिटेन से आयातित वस्तुओं द्वारा ही किया जाता था। फलतः इस प्रवृत्ति ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति को जबर्दस्त बढ़ावा दिया और अमेरिका इसके विपरीत दृष्टिकोण से दोयम स्थिति में बने रहने के लिए अभिशप्त रहा।

अमेरिकी क्रांति को बढ़ावा देने में ब्रिटेन एवं फ्राँस के मध्य होने वाले सप्तवर्षीय युद्ध (1756-63 ई०) का भी विशेष महत्त्व है, जिसके फलस्वरूप कनाडा स्थित फ्राँसीसी उपनिवेशों पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया। कनाडा पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो जाने से परिस्थिति में व्यापक परिवर्तन आया, क्योंकि इस घटना से पूर्व अमेरिकावासियों को सदैव फ्राँसीसी खतरे की संभावना बनी रहती थी। यही कारण था कि इस मामले में उपनिवेशों में किसी न किसी रूप में ब्रिटेन के प्रति समर्थन की भावना रही, परन्तु सप्तवर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप जब कनाडा की ओर से फ्राँसीसी भय समाप्त हो गया तो इन उपनिवेशवासियों में स्वतंत्रता की भावना विकसित होने लगी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

ब्रिटिश प्रधानमंत्री ग्रिनविले के कुछ अनुचित कदमों ने उपनिवेशवासियों को भड़काने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सप्तवर्षीय युद्ध के उपरान्त ग्रिनविले द्वारा अमेरिकी उपनिवेशवासियों की रक्षा हेतु सेना का गठन किया गया, जिसके लिए होनेवाले खर्च का लगभग 1/3 भाग उपनिवेशवासियों से ही वसूल करना था। एक अन्य उत्तेजक बात यह भी थी कि मिसीसिपी क्षेत्र रेड-इंडियंस (अमेरिकी मूल निवासी) के लिए सुरक्षित रख दी गई जबकि मुख्य रूप से प्रगतिशील आबादी जिसमें अंग्रेज सहित अन्य यूरोपीयन थे, उक्त क्षेत्रों में भी पहुँच स्थापित करना चाहते थे। इस कृत्य से इन आबादियों में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के प्रति असंतुष्टी फैली। विदित है कि उपनिवेशों की आबादी मूलतः अंग्रेज जाति से ही भरी थी अर्थात् उपनिवेश की अधिकांश जनता अंग्रेज थी, परन्तु ब्रिटेन के प्रति असंतोष का मूल कारण दोनों के राजनीतिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर का होना था। ध्यातव्य है कि ये अंग्रेज अपने मूल देश से बेहतर भविष्य तथा धार्मिक उत्पीड़न से निजात पाने के लिए यहाँ आए थे और ये अपना स्वतंत्र अस्तित्व चाहते थे। इसलिए रंग और रक्त एक होने के बावजूद भी दोनों में पर्याप्त अंतर था।

जिन घटनाओं ने अमेरिकी क्रांति हेतु तात्कालिक कारण की पृष्ठभूमि तैयार की उनमें स्टांप एक्ट, आयात कर एक्ट एवं बोस्टन की प्रसिद्ध चाय वाली घटना (बोस्टन टी पार्टी) की विशेष भूमिका रही। स्टांप एक्ट के तहत उपनिवेश के सभी सरकारी दस्तावेजों एवं कानूनी पत्रों पर सरकार द्वारा निर्धारित शुल्क का स्टांप लगाना अनिवार्य कर दिया गया। वास्तव में उपनिवेश की जनता इतनी जागरूक एवं स्वतंत्रताप्रिय हो गई थी कि उसने इस ब्रिटिश कानून को अपने आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप माना तथा ऐसा कानून जिसके निर्माण में उपनिवेशवासियों की कोई भूमिका नहीं थी में अपने निर्णायक अधिकार जताने के लिए प्रसिद्ध ''प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं'' का नारा दिया। अंततः उपनिवेशवासियों के प्रबल विरोध के कारण स्टांप एक्ट शीघ्र ही समाप्त कर दिया गया। परन्तु उपनिवेशवासियों में तीव्र रोष उत्पन्न हो गया था। इसकी अगली कड़ी के रूप में अमेरिका में घृणित आयात कर अधिनियम अस्तित्व में आया। अमेरिकी क्रांति की पृष्ठभूमि निर्माण में इसकी सशक्त भूमिका रही। नए आयात कर अधिनियम के तहत उपनिवेश में आनेवाली उपभोक्ता वस्तुएँ जैसे चाय, कागज, शीशा आदि पर तट-कर लगाया गया। हालांकि व्यापक जन विरोध के दबाव में आकर ब्रिटिश सत्ता द्वारा आयात कर अधिनियम वापस ले लिया गया लेकिन चाय पर यह अधिनियम सरकार द्वारा बनाए रखा गया। चाय पर बरकरार रखे गए तट-कर का उद्देश्य ब्रिटिश सत्ता द्वारा उपनिवेशों में सांकेतिक रूप से अपनी सर्वोच्चता साबित करना था, जिसे उपनिवेश की जनता किसी भी स्थिति में स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। अंततः घटनाक्रम ने 'बोस्टन चाय पार्टी' को जन्म दिया जिसमें चाय से लदे ब्रिटिश जहाज को उपनिवेशों द्वारा उतारने से इंकार कर दिया गया। गौरतलब है कि 1773 के 'चाय एक्ट' के तहत अमेरिकी उपनिवेशों में चाय की आपूर्ति का एकमात्र अधिकार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के जिम्मे आ गया था। उपनिवेश की जनता ने इसे अपना राष्ट्रीय अपमान समझकर विरोध प्रदर्शन किए तथा ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध बोस्टन बंदरगाह पर चाय से लदे जहाज में भीषण तबाही मचाई। इस घटना के उपरान्त अमेरिकी स्वतंत्रता हेतु व्यापक [illegible] उपनिवेश एवं ब्रिटेन के मध्य यह स्थिति युद्ध में बदल गई, जिसमें उपनिवेश की सेना का सेनापति जॉर्ज वाशिंगटन एवं ब्रिटिश सेनापति लार्ड कार्नवालिस था। अमेरिकी स्वतंत्रता के युद्धों में 'लाफयेत' के नेतृत्व में फ्राँसीसी सेना का भी सराहनीय योगदान रहा। निश्चित रूप से फ्रांस सप्तवर्षीय युद्ध के पश्चात् अपनी पराजय का बदला किसी न किसी रूप में ब्रिटेन से लेना चाहता था और यही कारण था कि फ्रांस ने ब्रिटेन के विरुद्ध अमेरिका को सहायता प्रदान की। अंततः 1781 ई. में ब्रिटिश सेनापति कार्नवालिस को आत्मसमर्पण करना पड़ा और 1783 की पेरिस संधि के तहत 13 अमेरिकी उपनिवेश की स्वतंत्रता को ब्रिटेन द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

अमेरिकी क्रांति के परिणाम *(Consequences of American Revolution)*

अमेरिकी स्वतंत्रता युद्ध से पूर्व अमेरिका में 13 ब्रिटिश उपनिवेश थे, जो सभी एक-दूसरे से अलग-अलग थे किन्तु ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध सभी एकजुट हो गए। 1781 ई. में युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 13 स्वतंत्र राज्यों ने संघ की स्थापना की तथा एक संघीय संविधान को स्वीकार किया। यह संविधान 1789 ई. में लागू हुआ और इस रूप में वहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई, जो तत्कालीन विश्व की महान उपलब्धि थी। यह संसार का प्रथम लिखित संविधान था। हालाँकि शुरुआत में इसमें सीमित मताधिकार था जो संपत्ति एवं धर्म संबंधित कारकों से निश्चित होता था परन्तु कालान्तर में इन बाधाओं को दूर कर मताधिकार को सर्वव्यापी बना दिया गया। अमेरिकी संविधान में 'बिल ऑफ राइट्स' (अधिकार संबंधी अधिनियम) का प्रावधान किया गया जिसके अन्तर्गत अमेरिकी नागरिकों को भाषण, प्रेस, धर्म की स्वतंत्रता, कानून के समक्ष समानता आदि जैसे आवश्यक अधिकार प्रदान किए गए।

अगर अमेरिकी क्रांति के सामाजिक पक्ष पर पड़नेवाले प्रभावों को देखा जाए तो क्रांति के पश्चात् वहाँ प्रचलित उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन कर संपत्ति पर पुत्र एवं पुत्रियों को समान अधिकार प्रदान किया गया। क्रांति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रभाव दास प्रथा पर पड़ा। 1861 ई. में दासता की परंपरा को समाप्त घोषित किया जा सका।

अमेरिकी क्रांति के प्रभावस्वरूप ही इंग्लैंड की औपनिवेशिक नीतियों में व्यापक परिवर्तन आया, जैसे–उपनिवेशों के प्रति मातृभाव की भावना पर विशेष बल दिया गया। अमेरिका के इस 13 उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने के फलस्वरूप इंग्लैंड द्वारा इसकी भरपाई ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड में उपनिवेश की स्थापना कर की गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अमेरिकी क्रांति का प्रत्यक्ष प्रभाव फ्रांस की राजनीति पर भी पड़ा। इस क्रांति में फ्रांस द्वारा अमेरिका को सैनिक एवं आर्थिक रूप से पूरी सहायता दी गई थी। स्वभाविक रूप से अमेरिका में हासिल स्वतंत्रता एवं तत्पश्चात् स्थापित गणतंत्रीय शासन का प्रभाव फ्रांस पर भी पड़ा। अमेरिकी आदर्श, राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता, समानता एवं गणतंत्र का प्रभाव फ्रांसीसी जनमानस पर गहन रूप से पड़ा तथा फ्रांसीसी जनता ने इस आदर्श से अभिप्रेरित होकर फ्रांसीसी क्रांति में बढ़-चढ़कर भागीदारी की।

अमेरिकी क्रांति की व्यापक सफलता के पश्चात् विश्व राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका के नाम से एक शक्ति अस्तित्व में आया। हालांकि 1860 के दशक में अमेरिकी राज्यों में मुख्य रूप से दास प्रथा तथा पूंजीवाद के प्रश्न पर उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिकी राज्यों में लगभग चार वर्ष तक (1861-65) गृहयुद्ध चला। वस्तुतः उत्तरी राज्यों में औद्योगीकरण तीव्र था जबकि दक्षिणी राज्यों में कृषि व्यवसाय का विशेष प्रचलन था, जहाँ दासता की प्रथा स्पष्ट रूप से प्रचलित थी। अंततः तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के अथक प्रयास से गृहयुद्ध की समाप्ति हो गई एवं दास प्रथा का निस्तारण हुआ और अमेरिका अपने वर्तमान स्वरूप में सामने आया। उत्तर के औद्योगिक पूंजी का प्रवाह एवं निवेश दक्षिणी क्षेत्रों में भी हुआ। इस तरह अमेरिका का समग्र रूप से औद्योगिकरण हुआ तथा इसने एक विकसित देश की पंक्ति में अपने आपको स्थापित किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-3

फ्राँसीसी क्रांति *(French Revolution)*

••• *(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के विषय संख्या-5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)*

सन् 1789 की फ्राँसीसी क्रांति फ्राँस की निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध एक क्रांति थी, जिसके मूल में असमानता और भेदभाव पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था विद्यमान थी। इस क्रांति ने संपूर्ण विश्व में स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व पर आधारित मापदंडों को प्रसारित किया।

फ्राँसीसी क्रांति के कारण *(Causes of the French Revolution)*

इंगलैंड जैसे देश को छोड़कर संपूर्ण यूरोप में दैवी सिद्धान्तों पर आधारित निरंकुश एवं स्वेच्छापूर्ण शासन का प्रचलन था। फ्राँस के संबंध में यह व्यवस्था मुखर थी। फ्राँसीसी शासक लुई चौदहवाँ अपने आपको 'मैं ही राज्य हूँ' कहा करता था। राजनीतिक एवं प्रशासनिक पदों पर वंशानुगत आधार पर ही नियुक्ति होती थी जिस पर सामंत एवं पादरी वर्ग का एकाधिकार था। इस समय फ्राँस की राजनीतिक व्यवस्था अराजकता व भ्रष्टाचार जैसे तत्वों से आच्छादित थी।

अगर हम फ्राँस की तत्कालीन दशा की तुलना यूरोप के अन्य देशों से करें तो निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि फ्राँस की दशा अन्य यूरोपीय देशों से अधिक खराब नहीं थी लेकिन साधारण जनता को बहुत कष्ट सहने पड़ रहे थे। आमतौर पर फ्राँसीसी समाज विशेषाधिकारप्राप्त एवं विशेषाधिकारहीन वर्गों में विभाजित था। विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के अन्तर्गत पादरी एवं आभिजात्य अथवा कुलीन वर्ग आते थे, जबकि विशेषाधिकारहीन वर्गों में किसान, मजदूर एवं मध्यवर्ग जैसे व्यापारी, लेखक, वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदि शामिल थे। सारांशतः फ्राँसीसी समाज तीन वर्गों- पादरी वर्ग, कुलीन वर्ग एवं किसान-मजदूर-मध्यमवर्ग (व्यापारी तथा प्रबुद्ध वर्ग) में बँटा था। अब अगर हम इस विषय पर विचार करें कि फ्राँसीसी समाज के अन्तर्गत इन तीनों वर्गों की वास्तविक स्थिति कैसी थी तो हम पाएंगे कि समाज में प्रथम दो वर्ग-पादरी एवं कुलीन वर्ग तुलनात्मक रूप से कम जनसंख्या वाले थे परन्तु उच्च प्रशासनिक पदों एवं सैन्य पदों पर अधिकांशतः इन्हीं की नियुक्ति होती थी। साथ ही ये दोनों वर्ग करों की जिम्मेदारियों से मुक्त थे। इसके अलावा फ्राँस की कुल भूमि के लगभग **40%** पर इन्हीं दो वर्गों का अधिकार था। इस तरह कहा जा सकता है कि फ्राँसीसी समाज में इन दोनों वर्गों की विशिष्ट स्थिति थी। परन्तु एक विशेष बात यह भी थी कि इन दोनों वर्गों में कुछ लोग ऐसे थे जिनका स्तर तीसरे वर्ग से कहीं बेहतर नहीं कहा जा सकता था। ये लोग अपने ही वर्ग के उच्च स्तर वाले लोगों से प्रतिद्वंद्विता करते थे एवं तत्कालीन व्यवस्था से असंतुष्ट थे। ये अपने वर्गों के समृद्ध लोगों को ही अपने दुःखों का कारण मानते थे। स्वाभाविक रूप से इनकी नीति तीसरे वर्ग के समर्थन की थी। तीसरा वर्ग फ्राँसीसी जनसंख्या के अधिकतम भाग का प्रतिनिधित्व करता था। शोषण, अत्याचार, करों का एकतरफा भार आदि जैसे भेदभावमूलक तत्त्व थे जिससे प्रथम दो वर्गों के प्रति व्यापक असंतोष को बढ़ावा मिलता था। किसान-मजदूर की दीन-हीन स्थिति एवं मध्यमवर्ग की जागरूकता ने फ्राँस की तत्कालीन संकट को बढ़ावा दिया। मध्यमवर्ग यद्यपि आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो गए थे परन्तु विभिन्न प्रतिष्ठित प्रशासनिक पदों तथा अन्य सुविधाओं से वंचित थे। योग्यता एवं धन के बावजूद भी तत्कालीन व्यवस्था में उन्हे प्रतिष्ठा नहीं मिल पा रही थी। स्वाभाविक रूप से मध्यमवर्ग ने सभी शक्तियों को एकजुट कर व्यवस्था परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। इसी सामाजिक भेदभावमूलक स्थिति के आधार पर यह कहा जाता है कि फ्राँस की क्रांति असमानता के विरुद्ध एक संघर्ष था, जो समानता के आदर्श को प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया था।

फ्राँसीसी क्रांति के पीछे फ्राँस का आर्थिक खोखलापन भी कम उत्तरदायी नहीं था। ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध, सप्तवर्षीय युद्ध एवं अमेरिकी स्वतंत्रता युद्ध में सक्रिय भागीदारी से फ्राँस की आर्थिक स्थिति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। विदेशी ऋणों में व्यापक वृद्धि हुई। तत्कालीन फ्राँसीसी शासक लुई सोलहवें द्वारा राज्य की वित्तीय साख मजबूत करने के उद्देश्य से वित्त-मंत्रियों के रूप में वित्त विशेषज्ञों की नियुक्ति की गई तथा यह बात स्पष्ट रूप से सामने आई कि फ्राँस की वित्तीय स्थिति सुधारने हेतु पादरी एवं कुलीन वर्गों पर कर लगाना जरूरी है क्योंकि कोई अन्य विकल्प सामने नहीं था। परन्तु विडंबना यह रही कि ये दोनों विशेषाधिकार वर्ग इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। फलतः परिस्थितिवश राजा ने स्टेट्स जनरल की बैठक बुलाने की आवश्यकता महसूस की। अंततः घटनाक्रम ने फ्राँसीसी क्रांति को दस्तक दी।

यद्यपि फ्राँसीसी समाज किसानों एवं मजदूरों की बहुलता वाला समाज था, जिनमें नेतृत्त्व क्षमता का अभाव था लेकिन मध्यम वर्ग द्वारा इनकी शक्ति को एकजुट कर नेतृत्व प्रदान किया गया। क्रांति के पीछे बौद्धिक पृष्ठभूमि का व्यापक आधार भी उत्तरदायी था। क्रांति से पूर्व फ्राँस में बौद्धिक क्रांति हो चुकी थी, जिसमें मांटेस्क्यू, वाल्टेयर एवं रूसो का अमूल्य योगदान रहा। मांटेस्क्यू द्वारा सर्वप्रथम राज्य-राजा एवं व्यक्ति के मध्य संबंधों का विश्लेषण किया गया। मांटेस्क्यू की एक प्रमुख वैचारिक विशेषता यह थी कि उसने न तो

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्रांति की ही बात की और न ही फ्राँस की तत्कालीन शासन व्यवस्था की प्रत्यक्षत: आलोचना की, परन्तु प्रशासन के आदर्श रूप 'शक्ति का पृथक्करण सिद्धान्त' के द्वारा उसने फ्राँसीसी शासन की कमियाँ उजागर की। वाल्टेयर ने तत्कालीन राजतंत्र एवं उसके मुख्य अवयव जैसे पादरी एवं कुलीन वर्ग की भ्रष्ट तथा अनैतिक मनोवृत्ति की खुलकर निंदा की तथा तत्कालीन व्यवस्था में परिवर्तन की जोरदार वकालत की। बौद्धिक आंदोलन में 'रूसो' का योगदान सराहनीय रहा। स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व जो फ्राँसीसी क्रांति के मूल अंग थे, रूसो के विचारों से ही प्रभावित थे। रूसो का 'सामान्य इच्छा' (General Will) विषयक विचार काफी लोकप्रिय हुआ, जिसके अनुसार राज्य का कानून लोगों की इच्छा पर आधारित होना चाहिए न कि राजाओं की इच्छा पर। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में राज्य के अस्तित्व को समझौतावादी सिद्धान्त पर आधारित बताया। यही वह आधार था जिसने व्यक्ति में स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व की भावना को प्रोत्साहित किया। तत्कालीन समाज पर रूसो के पड़ने वाले प्रभाव के बारे में नेपोलियन प्रसंगवश कहता था कि "अगर फ्राँस में रूसो नहीं होता तो क्रांति नहीं होती।" अत: हम कह सकते हैं कि फ्राँस का बौद्धिक आधार काफी विस्तृत था, जिसने स्टेट्स जनरल की बैठक से प्रारंभ हुए फ्राँसीसी क्रांति को विचारधारा के स्तर पर समृद्धशाली बनाया।

क्रांति का उद्भव और प्रसार *(Emergence and Expansion of Revolution)*

स्टेट्स जनरल के अधिवेशन ने एक गंभीर परिस्थिति को जन्म दिया। मताधिकार को लेकर तीसरे स्टेट का पहले स्टेट (पादरी) एवं दूसरे स्टेट (कुलीन) के साथ तीव्र मतभेद हो गया। फलत: तीसरे स्टेट के प्रतिनिधि जो संख्या में अत्यधिक थे, ने स्वयं को राष्ट्रीय सभा के रूप में घोषित किया एवं टेनिस कोर्ट में अपनी सभा बुलाई। इसी का परिणाम संविधान सभा के रूप में सामने आया। इसी समय तीव्र अफवाह के बीच बास्तील के किले के पतन की प्रसिद्ध घटना घटी, जिसे निरंकुश सत्ता का पतन एवं जनसाधारण के विजय के रूप में मनाया गया। बास्तील के पतन के पश्चात् अन्य क्षेत्रों में भी क्रांति का प्रसार हुआ। राष्ट्रीय सभा द्वारा 'मानव और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' स्वीकार की गई। अन्य यूरोपीय देशों के लिए यह घोषणा महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि यूरोप की शासन व्यवस्था पुरातन व्यवस्था पर आधारित विशेषाधिकार वर्ग द्वारा ही संचालित होती थी तथा फ्राँस की इस बदली हुई परिस्थिति ने अन्य यूरोपीय देशों की पुरातन व्यवस्था के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न कर दिया। इन देशों में क्रांति की विचारधारा (स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व) के प्रचार-प्रसार से राजनीतिक सत्ता के समाप्त हो जाने का भय उत्पन्न हो गया था। तदन्तर परिस्थिति ऐसी हो गई कि फ्राँस को क्रांति एवं राष्ट्र दोनों की रक्षा के लिए दोहरी जिम्मेदारी का सफलतापूर्वक निर्वहन करना पड़ा। फ्राँस को ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा इटली के राजाओं से युद्ध करना पड़ा। अगली कड़ी के रूप में फ्राँस में राष्ट्रीय सभा के स्थान पर विधानसभा अस्तित्व में आई। इसी बीच देश छोड़कर भागने की कोशिश कर रहे राजा और रानी को गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया गया तथा 1793 [illegible] घटनाक्रम की अगली कड़ी में जैकोबिन्स के रूप में आतंक का राज्य कायम हुआ। इसके अधीन सेना की शक्ति में [illegible] तथा इसी परिप्रेक्ष्य में नेपोलियन की शक्ति का उदय हुआ, जिसके नेतृत्व में फ्राँस का बहुमुखी विकास हुआ तथा फ्राँस यूरोप की महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया।

फ्राँसीसी क्रांति के प्रभाव *(Effects of French Revolution)*

फ्राँसीसी क्रांति ने संपूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। इस क्रांति का प्रसिद्ध मूल मंत्र 'स्वतंत्रता, समानता, विश्व बंधुत्व' तत्कालीन विश्व की महान उपलब्धि के रूप में यूरोपीय देशों में तेजी से फैल गई। इससे यूरोप के देशों (इंग्लैंड को छोड़कर) में विद्यमान निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन पर आधारित शोषणकारी व्यवस्था पर तीव्र प्रहार हुआ एवं वहाँ के जनता में स्वतंत्रता एवं समानता की भावना प्रबल हुई। स्वतंत्रता का सिद्धान्त इस क्रांति का प्रथम प्रसिद्ध सिद्धान्त था। वस्तुत: फ्राँस में क्रांतिकारियों ने मानवाधिकारों के घोषणापत्र द्वारा लोगों को मानवाधिकारों के प्रति संवेदनशील बनाया। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व की अनुभूति हुई। स्वतंत्रता की इसी भावना ने फ्राँस में किसानों को अर्द्धदासता से मुक्ति दिलाई एवं सामंतों के बेड़ियों से उन्मुक्त कराया। राजनीतिक अधिकारों के दृष्टिकोण से मताधिकार सिद्धान्त का प्रचलन हुआ। समानता की भावना का प्रसार क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू था। राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समानता के मापदंड स्थापित करने की यथेष्ट कोशिश की गई क्योंकि तत्कालीन समाज विषमतावादी व्यवस्था पर आधारित था। फ्राँसीसी क्रांति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष विश्व-बंधुत्व की अवधारणा थी। निश्चित रूप से यह एक स्वतंत्रताप्रिय स्थिति का द्योतक था जिससे यूरोपीय देशों का निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी तंत्र बुरी तरह प्रभावित हुआ। तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न देशों में क्रांतिकारी आंदोलन प्रारंभ हो गए। जब नेपोलियन ने जर्मनी, इटली सहित विभिन्न क्षेत्रों को जीत कर एवं उसकी स्वतंत्रता समाप्त कर अपना शिकंजा मजबूत किया तो कालान्तर में लोगों में स्वशासन की भावना प्रबल हुई और वे इस दिशा में सकारात्मक पहल की ओर अग्रसर हुए। यह कहना युक्ति संगत होगा कि जर्मनी एवं इटली के एकीकरण में इस आदर्श का महान योगदान था।

फ्राँसीसी क्रांति के फलस्वरूप लुई सोलहवें की सत्ता समाप्त कर गणतंत्रीय प्रणाली को अपनाया गया। यह अलग बात है कि फ्राँस के हितों में नेपोलियन के सम्राट बनने के क्रम में गणतंत्रीय प्रणाली को तिलांजलि दे दी गई। फ्राँसीसी क्रांति ने फ्राँस सहित विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता के प्रसार में अमूल्य योगदान दिया। मिशाल के तौर पर इसका सर्वोत्तम उदाहरण पुर्तगालियों एवं स्पेनवासियों द्वारा

Copyright – Drishti The Vision Foundation

नेपोलियन की सेना को बुरी तरह से पराजित कर अपनी स्वतंत्रता कायम करना था। इस प्रसंग में एक विशेष बात यह थी कि स्वाधीनता हेतु लड़ने वाले क्रांतिकारी न सिर्फ अपनी स्वाधीनता के लिए और न ही अपने शोषणकारी शासक को समाप्त करने हेतु संघर्ष कर रहे थे वरन वे सर्वत्र तानाशाही को समाप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित थे।

अंत में कहा जा सकता है कि फ्राँसीसी क्रांति ने तत्कालीन विश्व में स्वतंत्रता, समानता, विश्व-बंधुत्व जैसी व्यापक अवधारणा को प्रचलित कर लोगों में तत्कालीन पुरातन व्यवस्था पर आधारित व्यवस्था के विरुद्ध स्वतंत्रताप्रियता एवं राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया जिससे गणतंत्रीय प्रणाली को प्रोत्साहन मिला। हालाँकि नेपोलियन के पतन के बाद 1814-15 में आयोजित वियना कांग्रेस द्वारा पुन: पुरातन व्यवस्था के मापदंड को स्थापित करने की कोशिश की गई, लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि फ्राँसीसी क्रांति के फलस्वरूप स्वेच्छाचारी व्यवस्था खोखली साबित हुई और अंतत: विश्व में गणतंत्रीय शासन प्रणाली प्रतिष्ठित हुई। यह फ्राँसीसी क्रांति की महान देन कही जा सकती है।

फ्राँसीसी क्रांति की प्रमुख घटनाएँ *(Important Incidents of French Revolution)*

(i) **स्टेट्स जनरल का अधिवेशन-** 5 मई, 1789 को स्टेट्स जनरल की बैठक शुरू हुई। यह बैठक दीर्घ अवधि के पश्चात् हो रही थी एवं इसके प्रतिनिधियों को कार्यवाहियों की कोई जानकारी नहीं थी। पहले प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्टेट्स की बैठक अलग-अलग होती थी एवं सभी के अलग-अलग 300 सदस्य होते थे। किसी मुद्दों पर निर्णय दो सदनों के बहुमत से ही निश्चित होता था। परन्तु इस समय मुख्य बातें उभरकर सामने आईं कि तृतीय स्टेट्स ने अपने प्रतिनिधियों की संख्या दोगुनी करने की मांग की, क्योंकि उनकी जनसंख्या प्रथम एवं द्वितीय स्टेट्स की जनसंख्या से दोगुनी थी। यद्यपि राज्य द्वारा इस मांग को स्वीकार कर लिया गया लेकिन यह बात अस्पष्ट हो रही कि क्या तीनों स्टेट्स की बैठक साथ में होगी या अलग-अलग। यह एक ऐसा मुद्दा था जिस पर तीनों स्टेट्स में सहमति नहीं बन पा रही थी। तृतीय स्टेट्स चाहते थे कि बैठक संयुक्त रूप से एवं बहुमत के आधार पर हो जबकि प्रथम एवं द्वितीय स्टेट्स अलग-अलग बैठक चाहते थे और ऐसा न होने पर दो सदनों के एक साथ मिल जाने से तृतीय सदन पराजित हो जाता। सभी स्टेट्स अपनी-अपनी जिद पर अड़े रहे।

(ii) **टेनिस कोर्ट की शपथ-** स्टेट्स जनरल बैठक को अगली कड़ी के रूप में तृतीय स्टेट द्वारा टेनिस कोर्ट की शपथ वाली घटना उल्लेखनीय रही। सभी प्रतिनिधियों ने टेनिस कोर्ट में एक संविधान के निर्माण हेतु शपथ ली। इस दृढ़तापूर्ण शपथ से घबराकर राजा ने तीनों सदनों की बैठक एक साथ होने की आज्ञा दे दी। स्टेट्स जनरल अब राष्ट्रीय सभा कहलाने लगी।

(iii) **बास्तिल का पतन-** बढ़ती महंगाई से परेशान फ्राँसीसी जनमानस ने रोजी-रोटी की तलाश में पेरिस को प्रस्थान किया। कुछ ही दिनों में पेरिस की गलियाँ एवं सड़क इस भीड़ से भर गई। इस समय कुछ क्रांतिकारी तत्वों ने इस भीड़ को राजसत्ता के विरुद्ध भड़काना शुरू किया; साथ ही यह अफवाह भी फैली कि राजा स्थिति पर काबू पाने हेतु विदेशी सैनिकों का उपयोग करने जा रहा है। फलत: भीड़ में शामिल कुछ असमाजिक तत्वों ने पेरिस में भीषण लूटपाट शुरू की एवं गोला-बारूद पाने हेतु बास्तिल के किले पर हमला कर दिया। हमले से वहाँ बंद कैदी मुक्त हो गए। बास्तिल के पतन के साथ ही फ्राँसीसी क्रांति की शुरुआत हो गई।

(iv) नागरिक सभा एवं राष्ट्रीय रक्षा दल- फ्राँसीसी क्रांति की शुरुआत होते ही पेरिस में फैली अव्यवस्था तथा कानून-व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति पर काबू पाने एवं पेरिस की रक्षा के लिए लाफायत के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय रक्षा दल (नेशनल गार्ड) तथा पेरिस के शासन हेतु नागरिक सभा (कम्यून) की स्थापना की गई। अन्य फ्राँसीसी शहरों में भी इन संस्थाओं का संगठित रूप सामने आया। वास्तव में फ्राँस का वास्तविक शासन अब राष्ट्रीय रक्षा दल एवं कम्यून के हाथों में ही केंद्रित हो गया। इन संस्थाओं ने बूर्बोवंशीय सफेद ध्वज के स्थान पर नया राष्ट्रीय ध्वज निकाला।

(v) **संविधान सभा एवं मानवाधिकारों की घोषणा-** राष्ट्रीय सभा का ही परिवर्तित रूप था- संविधान सभा। सन् 1789-1791 के बीच संविधान का निर्माण कार्य संपन्न हुआ। अमेरिकी क्रांति एवं रूसो की पुस्तक 'सोशल कांट्रेक्ट' से प्रभावित संविधान सभा के सदस्य ने फ्राँसीसी क्रांति के फलस्वरूप परिवर्तित स्थिति में मानवाधिकारों की घोषणा की। मानवाधिकारों की इस घोषणा में समानता के सिद्धान्तों का जोरदार समर्थन किया गया था। इसमें इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया गया था कि सभी मनुष्य समान रूप से पैदा होते हैं, अत: अधिकारों के मामलों में भी उनमें समानता होनी चाहिए। स्वाभाविक रूप से इस स्थिति में प्रत्येक राजनीतिक संस्था का यह कर्तव्य है कि मनुष्य के प्राकृतिक एवं मूल अधिकारों की रक्षा करें। इस प्रसिद्ध अधिकारों में मुख्य रूप से स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति, सुरक्षा एवं अत्याचार के विरोध का अधिकार, कानून के समक्ष समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, कानून निर्माण आदि शामिल थे। अत: यह कहा जा सकता है कि इस घोषणा में संविधान सभा ने नए संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों-स्वतंत्रता, समानता एवं जनता के प्रभुत्व की घोषणा की।

इस प्रसिद्ध घोषणा का विश्व के राजनीतिक पटल पर क्रांतिकारी प्रभाव परिलक्षित हुआ। यह घोषणा फ्राँसीसियों के लिए ही उपयुक्त नहीं था वरन् समस्त विश्व की दलित जनता इससे प्रेरित हुई। यह अलग बात है कि यह घोषणा मुख्य रूप से फ्राँसीसी मध्यमवर्ग को ही विशेष रूप से ध्यान में रखकर तैयार की गई थी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

(vi) व्यवस्थापिका सभा-जिरोंदिस्त एवं जैकोबिन दल (1791-92)- अपने हितों को ध्यान में रखते हुए संविधान सभा के सदस्यों ने व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की अनुशंसा की। सितंबर, 1791 में संविधान सभा भंग कर दी गई। सभा के भंग होते ही 1791 में 745 सदस्यीय व्यवस्थापिका सभा अस्तित्व में आई। व्यवस्थापिका सभा में दो दल थे- (क) वैध राजसत्तावादी एवं (ख) गणतंत्रवादी। इनमें वैध राजसत्तावादी क्रांति को समाप्त कर वैध राजतंत्र को कायम रखने के पक्ष में थे तथा संविधान के कट्टर समर्थक थे, जबकि गणतंत्रवादी राजपद को समाप्त कर गणतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। वस्तुतः गणतंत्रवादी उग्रवादी विचार के थे तथा विचारधारा के स्तर पर इसके दो गुट थे- जिरोंदिस्त एवं जैकोबिन।

जिरोंदिस्त दल- जिरोंद प्रांत के नाम पर इस दल का नाम जिरोंदिस्त पड़ा। जिरोंद प्रांत के अधिकांश निवासी ही इस दल के सदस्य थे। ये शिक्षित एवं सुसंस्कृत थे परन्तु व्यवहारिक राजनीतिज्ञ नहीं थे। इस दल के प्रमुख नेता थे- इस्नार, पेसिओं, ब्रिसो, मादाम रोलाँ, टॉमस पेन आदि। इस दल की पकड़ पेरिस पर नहीं थी और ये पेरिस की आलोचना करते थे। ये मूलतः युद्ध के पक्षधर थे एवं इनका विश्वास था कि युद्ध में ही वास्तविक देशभक्ति स्पष्ट होगी।

जैकोबिन दल- जैकाबो नामक चर्च के नाम पर इस दल का नाम जैकोबिन पड़ा। चूँकि जैकोबिन के सदस्य जैकाबो नामक चर्च में गुप्त रूप से मिला करते थे, इसलिए ये दल जैकोबिन कहलाए। ये अनुशासित एवं संगठित थे तथा पेरिस की भीड़ पर इनकी जबर्दस्त पकड़ थी। इसके प्रमुख नेता थे- दाँतो, रोबेस्पियर आदि।

(vii) नेशनल कंवेंशन एवं आतंक का राज्य (1792-95)- व्यवस्थापिका सभा के विघटन के पश्चात् फ्राँस की क्रांति तीसरे चरण में प्रविष्ट हुई। यह नेशनल कंवेंशन का काल था। इस काल में सरकार के शासनतंत्र पर जैकोबिन दल का प्रभाव था। 20 सितंबर, 1792 को नेशनल कंवेंशन की प्रथम बैठक हुई। इसमें जिरोंदिस्त एवं जैकोबिन दल मुख्य थे। नेशनल कंवेंशन के समक्ष तीन मुख्य समस्याएँ थीं- विदेशी आक्रमण, राजा की उपस्थिति एवं गृहयुद्ध। नेशनल कंवेंशन ने प्रस्ताव पारित कर राजतंत्र को समाप्त कर गणतंत्र की स्थापना की तथा राजा पर देशद्रोह का मुकदमा चलाकर उसे मृत्युदंड की सजा दी गई (21 जनवरी 1793)। नेशनल कंवेंशन के समय में जिरोंदिस्तों-जैकोबिनों के मध्य होने वाले संघर्ष ने अंततः आतंक के राज्य की शुरुआत की। रोबेस्पियर ने आतंक के राज्य की शुरुआत की। क्रांति विरोधियों के विरुद्ध सार्वजनिक रक्षा समिति, सामान्य सुरक्षा समिति एवं क्रांतिकारी न्यायालयों का गठन किया गया एवं भारी संख्या में लोगों को क्रांति का शत्रु बताकर मौत के घाट उतार दिया गया। विद्रोहों का दमन एवं बाहरी आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया गया। इस काल में निम्न वर्गों के लिए हितों पर विशेष बल दिया गया। आतंक के राज्य के समय में हजारों लोगों को दी गई फाँसी 'गिलोटीन' कहलाता है।

(viii) डायरेक्टरी का शासन-पैथियन विद्रोह एवं नेपोलियन का उदय (1795-99)- नेशनल कंवेशन द्वारा निर्मित संविधान के तहत कार्यपालिका का उत्तरदायित्व 5 सदस्यों वाली **निदेशक मंडल को सौंपा, [illegible] सभी सदस्य [illegible] सम्पन्न थे।** नेशनल कंवेंशन के पश्चात् फ्राँस में डायरेक्टरी का शासन शुरू हुआ। डायरेक्टरी के समय में फ्राँस का इतिहास अत्यंत दुखमय एवं अनिश्चित रहा। यह समय मध्यमवर्ग के चर्मोत्कर्ष का समय था।

डायरेक्टरी के समय में ही फ्राँस में पैथियन विद्रोह हुए। यह विद्रोह पूँजीवादी मध्यमवर्गीय शासन से फ्राँस को मुक्ति दिलाने का प्रयास था। 1795 में स्थापित पैथियन सोसायटी मुख्यतः मजदूर वर्ग के आंदोलन को सशक्त करने के उद्देश्य से की गई थी। इसकी अगुवाई 'नोएफ बबूफ' ने की परन्तु अंततः इस विद्रोह को दबा दिया गया।

डायरेक्टरी के समय में फ्राँस में फैली व्याप्त अराजकता, भ्रष्ट शासन, व्यापार-व्यवसाय की अवनति तथा असफल विदेश नीति के कारण गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई। इसी परिप्रेक्ष्य में नेपोलियन का उदय हुआ, जिसने डायरेक्टरी के शासन का अंत कर अंततः सत्ता पर अधिकार कर लिया।

नेपोलियन बोनापार्ट *(Napoleon Bonaparte)*

- नेपोलियन का जन्म 15 अगस्त, 1769 को कोर्सिका द्वीप में हुआ था। उसी वर्ष जेनेवा द्वारा यह द्वीप फ्राँस के हाथों बेच दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया में कोर्सिकावासियों में फ्राँस के प्रति नफरत फैल गई। फ्राँसीसी सरकार द्वारा कोर्सिका के लोगों हेतु कई सुविधाएँ दी गई ताकि लोगों में फ्राँस के प्रति अपनापन विकसित हो जाये। इसी क्रम में नेपोलियन की प्रारंभिक शिक्षा पेरिस की सैनिक स्कूल से संपन्न हुई। 1795 में राजतंत्रवादियों एवं पेरिस की भीड़ द्वारा नेशनल कन्वेंशन का व्यापक घेराव किया गया था और ऐसी स्थिति में नेशनल कंवेंशन की सफलतापूर्ण रक्षा करना नेपोलियन की एक बड़ी उपलब्धि थी। इस उपलब्धि से अभिप्रेरित होकर नेपोलियन के 1796 के इटली अभियान का मार्ग प्रशस्त हुआ। इटली अभियान की सफलता से प्रोत्साहित होकर नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया, मिस्र आदि देशों में भी अभियान चलाया। मिस्र अभियान सफल नहीं होने के बावजूद भी फ्राँस की जनता ने नेपोलियन का सहर्ष स्वागत किया जिसका एक कारण फ्राँसीसी जनता का तत्कालीन फ्राँसीसी नेतृत्व डायरेक्टरी के शासन के प्रति असंतुष्ट हो जाना था। नेपोलियन द्वारा डायरेक्टरी के शासन का अंत कर कौंसल व्यवस्था स्थापित की गई तथा नेपोलियन स्वयं प्रधान कौंसल बन गया। प्रधान कौंसल के रूप में नेपोलियन ने फ्राँस के लिए एक सर्वसम्मत एवं चिरस्थायी संविधान निर्माण को प्राथमिकता दी। वस्तुतः इस संविधान में गणतंत्र

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

का रूप समाहित था परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि संपूर्ण सत्ता नेपोलियन के हाथों में केन्द्रित थी। 1804 ई. में फ्रांस में जनमत संग्रह के आधार पर नेपोलियन फ्रांस का सम्राट् बना। सम्राट् के रूप में नेपोलियन द्वारा प्रशासन तंत्र, उद्योग, वाणिज्य व्यापार, शिक्षा, धर्म, विधि के संदर्भ में विधि संहिता सहित अनेकानेक सुधारों पर गंभीर पहल की गयी। इससे नेपोलियन की तानाशाही शासन के बावजूद भी फ्रांसीसी जनता एवं सबसे बढ़कर फ्रांस का एक देश के रूप में सर्वांगीण विकास संभव हो पाया।

नेपोलियन ने प्रसिद्ध विजय अभियान की नीति का अनुसरण कर इंगलैंड, ऑस्ट्रिया, प्रशा, रूस आदि से महत्त्वपूर्ण लड़ाइयाँ लड़ी, जिसमें इंगलैंड के साथ 1805 में ट्रेफलगर युद्ध में फ्रांस की पराजय हुई। अंततः यूरोप की इस शक्ति को पराजित करने हेतु नेपोलियन को प्रसिद्ध महाद्वीपीय व्यवस्था को लागू करना पड़ा जिसका उद्देश्य था- इंगलैंड के विदेशी व्यापार को हतोत्साहित कर आर्थिक रूप से पंगु बना देना और फिर सैन्य शक्ति द्वारा उसे पराजित कर फ्रांस को यूरोप की एकमात्र शक्ति के रूप में स्थापित करना। लेकिन इस व्यवस्था में कई व्यावहारिक समस्याएँ थी इसलिए शीघ्र ही यह व्यवस्था असफलता की राह पर अग्रसर हो गई और इंगलैंड के बजाय फ्रांस पर ही उल्टा हथियार चल पड़ा। नेपोलियन की इस व्यवस्था ने उसे यूरोप में कई युद्धों में उलझा दिया। पुर्तगाल-स्पेन युद्ध ने तो मानों नेपोलियन की प्रतिष्ठा को ही एक तरह से समाप्त कर दिया। अंततः प्रशा, ऑस्ट्रिया, इंग्लैंड, रूस तथा स्वीडेन के गठबंधन ने लिप्जिग के युद्ध (Battle of Leipzig) में नेपोलियन को पराजित कर दिया। यद्यपि नेपोलियन द्वारा फ्रांस की अंतर्राष्ट्रीय साख स्थापित करने हेतु एक और प्रयास किया गया, परन्तु 1815 में वाटर लू की पराजय ने सारे प्रयास पर पानी फेर दिया और 1815 में वियना कांग्रेस की व्यवस्था द्वारा फ्रांस में पुनः पुरातन व्यवस्था स्थापित की गई।

Copyright - Drishti The Vision Foundation

12/2/13
1

इकाई-4

औद्योगिक क्रांति (*Industrial Revolution*)

(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के विषय संख्या-5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)

औद्योगिक क्रांति से आशय उन वैज्ञानिक आविष्कारों, तकनीकी अनुसंधानों एवं उनके अनुप्रयोगों से है जिसके फलस्वरूप 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड में परंपरागत उद्योगों के स्थान पर नए एवं विशाल उद्योगों की स्थापना की गई जिससे उत्पादन की तीव्र गति एवं बेहतर उत्पाद के फलस्वरूप तत्कालीन औद्योगिक परिवेश में क्रांतिकारी परिवर्तन आए। 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल तक इंग्लैंड में लघु एवं कुटीर उद्योग-धंधों की ही प्रमुखता थी, परन्तु नए-नए यांत्रिक अनुसंधानों के फलस्वरूप संगठित एवं विशाल कारखाना पद्धति का विकास हुआ, जिसमें मशीनों द्वारा व्यापक पैमाने पर उत्पादन संभव हो सका। इस बदले परिवेश से पूंजीवादी विचारधारा सामने आई तथा देश की संपूर्ण औद्योगिक जगत पर पूंजीपतियों का निर्णायक नियंत्रण स्थापित हो गया। इस तरह कुटीर उद्योगों के स्थान पर कारखाना प्रणाली तथा दस्तकारी के स्थान पर मशीन युग की शुरुआत ही औद्योगिक क्रांति है। इस क्रांति ने वृहद पैमाने पर पूंजीवाद के विकास को प्रोत्साहन, औद्योगिक श्रमिक-वर्ग के स्तर में बदलाव, जनसंख्या में वृद्धि तथा इसका स्थानान्तरण एवं नव साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया तथा साथ ही नई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं को भी जन्म दिया।

इंग्लैंड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति होने के कारण (*Reasons behind First Industrial Revolution in England*)

18वीं शताब्दी में फ्राँसीसी उद्योग-धंधे एवं व्यापार इंग्लैंड की अपेक्षा उन्नतिशील अवस्था में थे। जनसंख्या के मामलों में फ्राँस की जनसंख्या इंग्लैंड से लगभग तिगुनी थी। खनिज संसाधन, मशीनी शक्ति एवं कच्चा माल भी फ्राँस में अपेक्षाकृत अधिक था, फिर भी औद्योगिक क्रांति इंग्लैंड में ही क्यों हुई? इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे जो इस प्रकार हैं-

1. **इंग्लैंड की भौगोलिक स्थिति-** इंग्लैंड की अनुकूल भौगोलिक स्थिति ने औद्योगिक क्रांति के लिए एक मजबूत आधार प्रदान किया। चारों ओर से समुद्र से घिरे होने के कारण इंग्लैण्ड के चारों ओर अनेक बंदरगाहों का विकास हुआ। व्यापारिक आवागमन में सुविधा तथा परिवहन की सस्ती एवं अच्छी सुविधाओं जैसे निर्णायक कारकों से आंतरिक एवं बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त कपड़ों के उत्पादन के लिए उपयुक्त जलवायु, शक्ति साधन के रूप में कोयला, धातु के रूप में लोहा तथा आवागमन हेतु नदियों की उपस्थिति ने औद्योगिक क्रांति हेतु प्रेरक तत्त्व का काम किया।
2. **कोयला तथा लोहे के उत्पादन में वृद्धि-** इंग्लैंड में कोयला एवं लोहे के प्रचुर भंडार के बावजूद भी उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था जब तक उसके उत्पादन में वृद्धि न हो जिससे ईंधन के रूप में तथा मशीन निर्माण में इसका यथेष्ट उपयोग हो सके। हालाँकि इंग्लैंड में 1700 ई. तक कोयला उत्पादन के प्रारंभिक प्रयास आरंभ हो चुके थे किन्तु एक बड़ी समस्या यह थी कि अधिक गहराई में कोयला खुदाई के क्रम में पानी निकल जाता था। अत: किसी ऐसी युक्ति की आवश्यकता महसूस हो रही थी जिससे इन पानी को खदानों से निकाला जा सके और कोयला का उत्पादन बढ़ाया जा सके। इस संबंध में जेम्स वाट एवं मैथ्यू बोल्टन के प्रयास से वाष्प इंजन का विकास हुआ और इंग्लैंड में कोयला उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।
   यद्यपि इंग्लैंड में लोहे की कमी नहीं थी, परन्तु उसके उपयोग हेतु उसे गलाने की जरूरत पड़ती थी। तत्कालीन पद्धति के अनुसार लकड़ी की सहायता से लोहा को गलाकर उपयोग किया जाता था। यह प्रणाली काफी धीमी एवं खर्चीली भी थी। हालाँकि 'डार्बी' द्वारा विकसित लोहे को गलाने की कोयला पद्धति ने काफी हद तक इस समस्या का समाधान कर दिया परन्तु इस तरीके से गलाए गए लोहे में शुद्धता का अभाव था। अंतत: हेनरी कोर्ट द्वारा कोक कोयले का उपयोग कर कच्चे लोहे की अशुद्धियाँ दूर करने एवं शुद्ध लोहा के उत्पादन में सफलता प्राप्त की गई। इस पद्धति से इंग्लैंड में लौह उद्योग की पर्याप्त प्रगति संभव हो पाई।
3. **कृषि क्रांति का प्रभाव-** औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा देने में इंग्लैंड में होने वाली तीव्र कृषि क्रांति का भी योगदान कम नहीं था। बढ़ती हुई जनसंख्या हेतु कृषि उत्पादन में वृद्धि समय की मांग थी। अत: इंग्लैंड में नई कृषि विधियों जैसे चकबन्दी व्यवस्था (बाड़ा आंदोलन) का विकास हुआ। इसके तहत जमींदारों के अधीन बड़े-बड़े कृषि फार्म स्थापित हुए। इसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इन जमींदारों की कृषिगत आय में होने वाली वृद्धि औद्योगिक क्षेत्र में निवेशित की जाने लगी। साथ ही इंग्लैंड में कृषि कार्यों में आधुनिक कृषि यंत्रों के व्यापक प्रयोग से कृषिगत मजदूरों में बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो गई। अत: बेरोजगार हुए कृषक मजदूर बड़े-बड़े कारखाना प्रणाली हेतु सस्ते श्रमिक का बेहतर विकल्प साबित हुए और इस रूप में वहाँ औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा मिला।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

4. **जनसंख्या में वृद्धि-** 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड की जनसंख्या में होने वाली तीव्र वृद्धि ने भी औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया। जनसंख्या में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तुओं की मांग में वृद्धि हुई जिससे उत्पादन क्षमता में भी वृद्धि हुई।

5. **पूंजी की उपलब्धता-** औद्योगिक विकास हेतु पूंजी की पर्याप्त उपलब्धता एक अनिवार्य कारक है। इस समय इंग्लैंड में विदेशों से अधिकाधिक मात्रा में धन का आगमन हुआ। इस संबंध में दास व्यापार, सामुद्रिक लूटमार, अमेरिका तथा भारतीय लूट से लाए गए धन का निवेश बड़े-बड़े कारखानों को स्थापित करने में किया गया। व्यापारिक बैंकों के द्वारा भी औद्योगीकरण को बढ़ावा देने हेतु व्यापक ऋण की मात्रा उपलब्ध कराई गई। गौरतलब है कि विभिन्न देशों के व्यवसायियों द्वारा अर्जित धन का निवेश भूमि खरीदने तथा उसे विकसित करने में किया गया परन्तु इंग्लैंड में यह उद्योगों की स्थापना व इसके विस्तार पर ज्यादा केंद्रित था।

6. **औपनिवेशिक विस्तार-** विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा व्यापार वृद्धि के क्रम में उपनिवेश स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू हुई। इंग्लैंड इस मामले में अग्रणी रहा कि विश्व के प्रत्येक कोने में इसके उपनिवेश थे। इन उपनिवेशों में उपलब्ध कच्चे माल का प्रवाह इंग्लैंड की ओर तथा इंग्लैंड स्थित उद्योगों में निर्मित माल का प्रवाह एक बाजार के रूप में इन उपनिवेशों में होता था। फलत: औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला।

7. **मजबूत सामुद्रिक शक्ति-** सामुद्रिक शक्ति की दृष्टि से इंग्लैंड एक अग्रणी यूरोपीय देश का उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। युद्ध की स्थिति में भी इंग्लैंड अपनी सुदृढ़ एवं विशाल जल सेना के आधार पर अपने व्यापार को प्रभावी रूप से संचालित करने में सक्षम था। अन्य देशों के पास तुलनात्मक रूप से मजबूत सामुद्रिक शक्ति नहीं थी। यही वह निर्णायक कारक था जिसके बल पर इंग्लैंड एक विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहा।

8. **फ्राँसीसी क्रांति का योगदान-** क्रांति से पूर्व फ्राँस की गणना एक समृद्ध औद्योगिक एवं आर्थिक दृष्टि से संपन्न देशों में होती थी परन्तु क्रांति ने इस स्थिति को प्रभावित किया। अभी तक जो भी उपनिवेश अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ फ्राँस से मंगाते थे अब उन्होंने इंग्लैंड से मंगाने शुरू कर दिए। इन बदली हुई परिस्थितियों ने इंग्लैंड को अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ विश्व के विभिन्न भागों में तीव्र करने हेतु प्रोत्साहित किया।

9. **यांत्रिक आविष्कार-** इस समय इंग्लैंड के विभिन्न क्षेत्रों में हुई वैज्ञानिक प्रगति एवं यांत्रिक आविष्कार ने औद्योगिक क्रांति को नयी दिशा प्रदान की तथा उसे विश्वव्यापी स्वरूप प्रदान किया। जॉन के (John Kay) नामक प्रसिद्ध अंग्रेज ने 1733 ई. में कपड़ा बुनने के लिए 'फ्लाइंग शटल' नामक मशीन का आविष्कार किया, जिसकी सहायता से कम समय में अधिकाधिक कपड़ों की बुनाई संभव हो पायी। इस आविष्कार के फलस्वरूप काते गए सूत की मांग में तीव्रगामी वृद्धि हुई जिससे इस क्षेत्र में नए अविष्कार की आवश्यकता महसूस की गई। इसकी पूर्ति जेम्स हारग्रीब्स द्वारा 'स्पिनिंग जेनी' नामक मशीन के आविष्कार से संभव हो पायी। इस मशीन की सहायता से आठ गुना अधिक सूत उतने ही परिश्रम से काटे जा सकते थे, जितने कि अभी तक प्रचलित पद्धति से काटा जाता था। रिचर्ड आर्कराइट द्वारा 'वाटरफ्रेम' नामक मशीन की सहायता से सूत काटने के और भी उन्नत मशीनें विकसित किए गए। इस मशीन को चलाने हेतु जल ऊर्जा का उपयोग किया जाता था। इस दिशा में सेम्युनल क्रॉम्पटन द्वारा आविष्कृत 'स्पिनिंग म्यूल' एवं एडवर्ड कार्टराईट द्वारा आविष्कृत 'पावर लूम' नामक मशीन की सहायता से वस्त्र उद्योग में सूत की कटाई एवं बुनाई कार्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया और इस परिवर्तन ने इंग्लैंड में औद्योगीकरण को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। सूती वस्त्र उद्योग की व्यापक उन्नति के परिणामस्वरूप उसकी रंगाई की आवश्यकता को ध्यान में रखकर विभिन्न रसायन उद्योग विकसित हुए। इस संबंध में 'शीले' द्वारा एक महत्त्वपूर्ण रसायन क्लोरीन की खोज हुई जिसके माध्यम से कम समय में ही सूत की रंगाई का काम संभव हो पाया। जेम्स वाट द्वारा भाप इंजन का आविष्कार किया गया जो कि एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसके माध्यम से उद्योगों हेतु कम खर्चे पर ही सुरक्षित ईंधन की पूर्ति संभव हो सकी। इस आविष्कार ने औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी।

कच्चे माल को औद्योगिक स्थलों पर पहुँचाना एवं उत्पादित माल को बाजार तक पहुँचाना परंपरागत परिवहन व्यवस्था से संभव नहीं हो पा रहा था। अत: परिवहन के वैसे नवीन साधन जो तीव्रगामी एवं सुदृढ़ हों, की आवश्यकता महसूस की गई। इसी आवश्यकताओं के तहत कंकड़-पत्थर एवं तारकोल के मिश्रण से सड़क निर्माण की नवीन विधियों का आविष्कार हुआ। सड़क मार्ग के साथ-साथ आंतरिक व्यापार को बढ़ावा देने हेतु नहरों की विशाल श्रृंखला का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ तथा इंग्लैंड के लन्दन, मैनचेस्टर आदि औद्योगिक नगर इन नहरों द्वारा एक-दूसरे से जुड़ गए। परिवहन साधनों के रूप में वाष्प चालित इंजन का विशिष्ट महत्त्व रहा। इसके उपयोग से स्टीमरों एवं जहाजों की गति में तीव्रता आई। भाप-इंजनों द्वारा लोहे की पटरियों पर रेलगाड़ियों के सफल संचालन भी सराहनीय रहे। इन सभी यांत्रिक आविष्कारों से परिवहन क्षेत्र में क्रांति आई, जिसने औद्योगीकरण को प्रोत्साहन दिया।

औद्योगीकरण को पर्याप्त प्रोत्साहन देने में अत्याधुनिक संचार माध्यम संबंधी आविष्कार भी विशेष महत्त्व रखते हैं। टेलीफोन एवं टेलीग्राफ के आविष्कार ने संचार क्षेत्र में क्रांति ला दी। इस दिशा में इंग्लैंड एवं फ्राँस के समुद्र तटों के मध्य टेलीग्राफ के तार सफलतापूर्वक बिछाये गए तथा अटलांटिक महासागर में टेलीग्राफ लाइन बिछाकर संसार के लगभग सभी देशों के बीच संपर्क सूत्र कायम किया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

तत्कालीन संदर्भ में अगर हम देखें तो उस समय किसी अन्य यूरोपीय देशों में ये सभी सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं, जैसे- कुछ देशों में पूंजी पर्याप्त न थी, कहीं प्राकृतिक संसाधन नहीं थे तो कहीं राजनीतिक/प्रशासनिक पद्धति अनुकूल नहीं थीं। चूँकि इंग्लैंड में 1688 की 'गौरवपूर्ण क्रांति' के पश्चात् सुव्यवस्थित राजनीतिक/प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी, अत: इसका लाभ इंग्लैंड को मिला। अन्य यूरोपीय देशों में इस समय भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था थी, जहाँ राजनीतिक शासन पद्धति पिछड़ी हुई थी तथा जर्मनी एवं इटली जैसे देश तो संगठित भी नहीं थे।

अत: हम कह सकते हैं कि इन विभिन्न कारणों ने विभिन्न यूरोपीय देशों के बीच इंग्लैंड को विशिष्ट स्थिति में ला खड़ा किया और इस रूप में इंग्लैंड औद्योगिक क्रांति का अगुआ बना। औद्योगिक क्रांति के संबंध में इंग्लैंड अन्य देशों का पथ-प्रदर्शक भी बना क्योंकि इंग्लैंड में यह परिवर्तन किसी दूसरे देश की सहायता के बिना हुआ इसी आधार पर इंग्लैंड को 'विश्व का उद्योगशाला' कहा गया है।

औद्योगिक क्रांति के परिणाम/प्रभाव *(Results/Effects of Industrial Revolution)*

औद्योगिक क्रांति विश्व इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इस क्रांति ने परंपरागत उत्पादन पद्धति को गंभीर रूप से प्रभावित किया। जहाँ पहले उत्पादन पद्धति मानव श्रम पर निर्भर थी वहीं इस क्रांति के फलस्वरूप मानवीय श्रम के स्थान पर मुख्यत: मशीन प्रणाली का विकास हुआ। इस युक्ति के कारण उत्पादन के स्तर में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि संभव हो सकी। कच्चे माल की प्राप्ति एवं बाजार की आवश्यकता ने विभिन्न यूरोपीय देशों को औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के लिए प्रेरित किया। परंपरागत रूप से यूरोप का तत्कालीन सामाजिक ढाँचा जिसमें सामंत वर्ग मुख्यत: सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि के उच्च सोपान पर थे, की जगह नवीन पूंजीपति वर्ग ने ले ली। इन पूंजीपति वर्गों में पूंजी का अधिकाधिक संकेन्द्रण होने तथा उस पूंजी का औद्योगिक इकाईयों में निवेश होने से एक नवीन व्यवस्था ने जन्म लिया जिससे श्रमिकों का शोषण होने लगा। श्रमिकों ने शोषण से मुक्ति के लिए अनेक कदम उठाए जो श्रमिक आंदोलनों के रूप में प्रकट हुए।

औद्योगिक क्रांति ने मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि को गंभीर रूप से प्रभावित किया, जिसे हम निम्नलिखित बिंदुओं में प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. **कारखाना पद्धति का उद्‌भव और विकास**- औद्योगिक क्रांति से पूर्व वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्योगों के अंतर्गत होता था जिसमें कारीगरों द्वारा अपने घरों में ही अल्प पूंजी के विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था अर्थात् हस्तकारी विद्या का प्रचलन था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप परंपरागत हस्तकारी प्रणाली पर तीव्र आघात पहुँचा। अब हस्तकारी के स्थान पर मशीनों एवं विभिन्न उन्नत यंत्रों की बाढ़ सी आ गई। अब इन मशीनों एवं यंत्रों को चलाने हेतु अधिक स्थान की आवश्यकता महसूस होने लगी, क्योंकि घरों में इसका उपयोग संभव नहीं था। अत: विस्तृत उत्पादन स्थल के रूप में कारखाना पद्धति का विकास हुआ। भौगोलिक खोजों, व्यापारिक लाभों, वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा यांत्रिक उपलब्धियों आदि के फलस्वरूप एक नवीन औद्योगिक परिदृश्य सामने आया। परिणामत: वस्तुओं के उत्पादन की युक्ति सस्ती, मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि के साथ सामने आई। वास्तव में इस बदली हुई स्थिति में परंपरागत स्वतंत्र एवं छोटे स्तर के कारीगर इस नई उत्पादन प्रणाली का सामना करने में असमर्थ हो गए और इनका परंपरागत धंधा ठप्प हो गया। इस स्थिति में उनमें बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो गई तथा अब वे इन कारखानों में वेतनभोगी श्रमिक के रूप में कार्य करने हेतु मजबूर हो गए और इस रूप में इनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया।
2. **शहरीकरण**- औद्योगीकरण की प्रक्रिया में उत्पादन केन्द्र के रूप में लोहा एवं कोयला क्षेत्रों, व्यापारिक केन्द्रों तथा बंदरगाहों के समीप शहरों की स्थापना की प्रक्रिया शुरू हुई। ग्रामीण स्तर पर कुटीर उद्योगों के पतन के फलस्वरूप जनसंख्या का स्थानांतरण इन केन्द्रों में होने लगा क्योंकि वहाँ रोजगार के अवसर मौजूद थे। जनसंख्या का आव्रजन इन शहरी स्थानों की तरफ होने से यहाँ जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। इस प्रक्रिया से देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या घनत्व में भी व्यापक परिवर्तन आने लगा। जो क्षेत्र अभी तक उपयोग में नहीं आ सके थे उनका महत्त्व बढ़ गया। उदाहरण के रूप में देखा जाए तो औद्योगिक क्रांति से पूर्व इंग्लैंड के दक्षिण-पूर्वी भाग में कृषि की प्रधानता थी और वहाँ जनसंख्या का जमाव भी अधिक था जबकि इसके उत्तर-पश्चिमी भाग की जनसंख्या अपेक्षाकृत कम थी, परन्तु इन क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना ने सभी समीकरण को बदल दिया। इस भाग में बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना से जनसंख्या में भारी बढ़ोतरी हुई। हालाँकि इन शहरों का विकास किसी निश्चित योजना के आधार पर नहीं हुआ। फलत: अनेक शहरी एवं स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। तत्कालीन शहरी व्यवस्था ने मानव जीवन शैली, रहन-सहन, खान-पान आदि पहलुओं को प्रभावित किया। औद्योगिक केन्द्रों के आस-पास कच्ची बस्तियों के विस्तार से वहाँ अत्यधिक गंदगी के कारण महामारी का प्रकोप बढ़ने लगा और इस तरह मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

3. **सामाजिक संरचना में परिवर्तन**- औद्योगिक क्रांति से पूर्व यूरोपीय समाज मुख्यत: तीन वर्गों में विभाजित था-कुलीन, पादरी एवं सर्वसाधारण। राजा एवं राजपरिवार के अन्य सदस्यों के बाद क्रमश: कुलीन एवं पादरी वर्ग का समाज में सर्वोच्च स्थान था। भूमि एवं प्रशासन के क्षेत्र में इनका लगभग एकाधिकार था जबकि सर्वसाधारण की स्थिति अत्यंत ही दयनीय थी और दोनों वर्गों द्वारा इनका विभिन्न तरीके से शोषण किया जाता था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज की इस वर्ग संरचना में व्यापक परिवर्तन आया। गौरतलब है कि औद्योगिक क्रांति से पूर्व अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था परन्तु अब अर्थव्यवस्था के रूप में कृषि का महत्त्व गौण होता गया एवं उसकी जगह उद्योगों का अस्तित्व कायम हुआ। औद्योगीकरण से पूंजीपति, उद्योगपति एवं मिल-मालिक के रूप में नये वर्ग उभरकर सामने आए। इन वर्गों को पूंजीवादी वर्ग (व्यापारी और पूंजीपति), मध्यम वर्ग (कारखानों के निरीक्षण, दलाल, ठेकेदार, इंजीनियर, वैज्ञानिक, वकील आदि) तथा श्रमिक वर्ग में विभक्त किया जा सकता है। इन विभिन्न वर्गों के उदय से सामाजिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई। नए पूंजीपति वर्ग ने न सिर्फ आर्थिक क्षेत्र में महत्ता स्थापित की वरन् राजनीतिक क्षेत्र में भी उच्च स्तर को प्राप्त किया। मध्यम वर्ग अत्यंत ही महत्वाकांक्षी था जिसकी गतिविधियाँ बहुआयामी थीं तथा अपने हितों की रक्षा हेतु वह श्रमिकों के साथ उच्च वर्ग को युक्तियुक्त नियंत्रण में रखने का प्रयास करता था। श्रमिक वर्ग के पास धन का नितांत अभाव था तथा पूंजीपतियों द्वारा इस वर्ग का शोषण विभिन्न ढंग से किया जाता था।

   औद्योगिक क्रांति ने तत्कालीन समाज के ताने-बाने पर आधारित सामाजिक संबंधों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार की प्रथा टूटने लगी, मानव-मानव के बीच संबंध का स्थान अब मानव-मशीन ने ले लिया, लोगों के नैतिक स्तर में व्यापक गिरावट आई आदि।

4. **साम्राज्यवाद का उदय**- औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विभिन्न देशों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति विकसित हुई, ताकि उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति का स्रोत, उत्पादित वस्तुओं की बिक्री हेतु बाज़ार तथा औद्योगीकरण के फलस्वरूप तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या को अन्यत्र बसाने की आवश्यकता पूरी हो सके। चूँकि इन आवश्यकताओं की पूर्ति साम्राज्यवाद के माध्यम से ही संभव था, अत: विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा इस युक्ति का अवलंबन किया गया। विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया महादेशों में अनेक ऐसे क्षेत्रों की खोज की गई जहाँ इन उद्योगों हेतु कच्चे माल पर्याप्त मात्रा में थे, साथ ही ये क्षेत्र इन उद्योगों से उत्पादित माल हेतु एक उपयुक्त बाजार भी हो सकते थे। इस दिशा में यातायात एवं संचार के नवीन साधनों ने साम्राज्यवाद को तीव्र गति प्रदान की और इन क्षेत्रों पर विभिन्न यूरोपीय देशों का अधिकार होने लगा। साम्राज्यवाद की आड़ में विभिन्न यूरोपीय देशों के मध्य परस्पर प्रतियोगिता बढ़ने लगी जिसकी चरम परिणति साम्राज्यवादी देशों के मध्य अनेक युद्धों के रूप में देखने को मिली। प्रारंभ में इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम और हॉलैंड जैसे यूरोपीय देशों ने विश्व के विभिन्न भागों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। इटली व जर्मनी के एकीकरण एवं जापान के एक महान शक्ति के रूप में उदय के पश्चात् इन देशों के द्वारा भी इस दिशा में प्रयास किए गए। इस प्रकार औपनिवेशिक क्षेत्र में इन विभिन्न देशों की महत्वाकांक्षाओं एवं प्रतियोगी भावनाओं ने परस्पर घृणा एवं वैमनस्य को बढ़ावा दिया।

5. **पूंजीवाद का विकास**- औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पूंजीवाद के विकास से एक नये अध्याय की शुरुआत हुई। इस क्रांति से पूर्व यूरोप में पूंजी का निवेश सामान्यत: भूमि में ही किया जाता था, परन्तु पुनर्जागरण काल में हुए भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए विभिन्न व्यापारिक कंपनियों द्वारा बैंकों की स्थापना की गई। ये बैंक व्यक्तिगत पूंजी को सुरक्षा हेतु एक मानक स्थान थे जहाँ पूंजी जमा करने के एवज में अतिरिक्त धन की प्राप्ति होती थी। ये व्यापारिक बैंक इन पूंजी का निवेश अपने व्यापार को और अधिक विस्तार देने में भी करते थे। यह व्यापारिक पूंजीवाद का आरंभिक चरण था। 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के बीच व्यापारिक पूंजीवाद का तीव्र विकास हुआ। परन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं 19वीं शताब्दी में पूंजीवाद का स्वरूप 'औद्योगिक पूंजीवाद' का हो गया। औद्योगीकरण हेतु अधिक पूंजी की आवश्यकता स्वाभाविक थी क्योंकि नई मशीनों के मूल्य बहुत हीं अधिक थे। इसके अतिरिक्त मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी के भुगतान के लिए भी धनराशि की जरूरत थी। अभी तक कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में जो पूंजी निवेश होता था वह किसी व्यापक स्तर पर नहीं होकर लगभग सीमित स्तर पर ही होता था। परन्तु औद्योगिक क्रांति ने उद्योगों की स्थापना, संचालन एवं उसकी प्रगति हेतु वृहद पूँजी की आवश्यकता को जन्म दिया। इस आवश्यकता की पूर्ति पूंजीपति एवं उद्योगपति द्वारा अकेला ही कर पाना मुश्किल था। फलत: विभिन्न आकर्षित ब्याज, बॉण्ड एवं प्रमाणपत्र जारी कर समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से उनकी बचत को पूंजी के रूप में इस्तेमाल कर औद्योगिक विकास को निश्चित गति दी गई। इसके अलावा विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति हेतु उपनिवेशवादी/साम्राज्यवादी नीति को अपनाना पड़ा ताकि विभिन्न उपनिवेशों से पूंजी का एक निश्चित प्रवाह हो सके। इसलिए तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद को जुड़वाँ भाई भी कहा गया है।

6. **श्रमिक समस्या का उदय**- औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप श्रमिकों के सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर गंभीर प्रभाव पड़ा। जहाँ एक ओर औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि हुई, यातायात एवं संचार साधनों के नए आविष्कार से विश्व के विभिन्न देशों की दूरियाँ कम हुई तथा इस रूप में भूमंडलीकरण को बढ़ावा मिला,

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

वहीं सभी देशों की राष्ट्रीय संपत्ति में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप आर्थिक रूप से संपन्नता के युग का पदार्पण हुआ,
श्रमिक वर्ग औद्योगिक क्रांति के इन लाभों से काफी हद तक वंचित रहे। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उद्योगपतियों द्वारा
संसाधन के उपलब्ध साधनों को हस्तगत कर लिया गया तथा श्रमिक अब इन उद्योगपतियों के दया पर आश्रित हो गए क्योंकि
इन वर्गों के समक्ष परंपरागत व्यवसाय के समाप्त हो जाने के बाद यही एक मात्र विकल्प शेष रह गया था कि वह कारखानों
में वेतनभोगी श्रमिक के रूप में कार्य करें। श्रमिकों को कम मजदूरी तथा कार्य के अधिक घंटों से संबंधित शर्तें अत्यंत ही
अमानवीय थीं तथा श्रमिकों को यंत्र समझकर उनसे अधिकाधिक कार्य लिया जाता था। 1800 ई. में ब्रिटिश संसद द्वारा श्रमिक
संघ विरोधी कानून के नवीनीकरण ने श्रमिक हितों की पूर्ण अनदेखी की। श्रमिकों की एक अन्य समस्या जो और भी गंभीर
थी वह थी- बेरोजगारी की समस्या। श्रमिकों को पूरे वर्ष कारखानों में रोजगार के पूर्ण अवसर नहीं मिल पाते थे। फलतः
इन श्रमिकों के सामाजिक पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। बच्चों एवं महिलाओं को कारखानों में नियोजित करने से शारीरिक
एवं मानसिक विकार के साथ-साथ स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ भी उत्पन्न हो गईं। श्रमिक की तीसरी गंभीर समस्या आवास
संबंधी थीं। चूँकि बाहर के क्षेत्रों से कारखानों में काम करने हेतु श्रमिकों का व्यापक आव्रजन हुआ था। ये श्रमिक इन
कारखानों के समीपवर्ती क्षेत्रों में ही आकर बस गए थे। यहाँ स्थापित विभिन्न बस्तियों की स्थिति अत्यंत ही दयनीय थीं। ये
बस्तियाँ किसी योजना के आधार पर नहीं बसी थीं वरन् अव्यवस्थित रूप से अबाध गति से बसती गयीं। इनमें सूर्य की रोशनी,
स्वच्छ हवा व शुद्ध पेयजल का अभाव था। सँकरी सड़कें एवं गलियाँ तथा सघन मकान की स्थिति के कारण गंदगी एवं
संक्रामक रोगों का बोलबाला था। इस नारकीय स्थिति में श्रमिकों की अकाल मृत्यु आम बात हो गई थी। इन श्रमिकों के
साथ एक बड़ी समस्या यह थी कि ये सभी श्रमिक भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से काम की तलाश में इन औद्योगिक शहरों में आकर
बसे थे, जिसमें आपस में कोई परिचय नहीं था। अशिक्षित तथा ग्रामीण पृष्ठभूमि से संबंधित होने के कारण वे इन पूंजीपतियों
के विरुद्ध साहसपूर्ण कदम उठाने की स्थिति में नहीं थे। वे अपने हितों के संरक्षण हेतु संगठन नहीं बना सकते थे क्योंकि
इस पर प्रतिबंध था। अपनी समस्याओं के समाधान हेतु उनके पास कोई रास्ता नहीं था।
आमतौर पर हम कह सकते हैं कि औद्योगिक क्रांति का लाभ मुख्यतः पूंजीपति वर्ग को ही मिला तथा श्रमिक वर्गों की स्थिति
और भी दयनीय हो गई।

7. **समाजवादी विचारधारा-** उत्पादन प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के बावजूद भी श्रमिक वर्ग औद्योगिक क्रांति के लाभों
से वंचित था और उसकी स्थिति और भी गंभीर होती जा रही थी। वहीं पूंजीपति वर्ग अधिकतम लाभ की स्थिति में थे। इस
तरह एक वर्ग अपनी पूंजी के निवेश के बल पर लाभ का मुख्यतः अधिकतम भाग प्राप्त कर रहा था वहीं श्रमिक वर्ग अत्यंत
ही कम मजदूरी पर श्रम कर वस्तुओं का उत्पादन करता था और लाभ की **स्थिति से भी वंचित किया जाता था।** फलतः
विरोधाभासी स्थिति को बढ़ावा मिला। इसी क्रम में कुछ विचारकों द्वारा श्रमिकों की दयनीय दशा में सुधार करने हेतु नई
विचारधारा का प्रतिपादन किया गया, जिसे 'समाजवादी विचारधारा' का नाम दिया गया। यह विचारधारा इस बात का समर्थन
करती थी कि उत्पादन के साधनों पर किसी एक वर्ग का अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। इन
विचारकों में रॉबर्ट ओवेन, सेन्ट साइमन एवं लूई ब्लाँ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने सामाजिक एवं आर्थिक
क्षेत्रों में एक नवीन विचारधारा का प्रतिपादन किया। इन विचारकों द्वारा विभिन्न यूरोपीय देशों में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था
की तीव्र आलोचना की गयी और उद्योगों के संगठन तथा पूंजीपति-श्रमिक संबंधों के विषय में नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन
किया गया। कार्ल मार्क्स एवं एंजेल्स ने 1848 ई. में कम्युनिस्ट घोषणापत्र जारी कर वैज्ञानिक समाजवाद की नींव डाली। इनके
द्वारा औद्योगिक श्रमिकों को 'सर्वहारा' की संज्ञा दी गई, जिनका समस्त जीवन बेड़ियों से बँधा रहता है और जिनके पास खोने
के लिए कुछ नहीं लेकिन पाने के लिए समस्त संसार होता है। इसी प्रसंग में कार्ल-मार्क्स द्वारा दुनिया के सभी औद्योगिक
श्रमिकों को एकजुट होने की अपील की गई थी।

8. **नवीन राजनैतिक विचारधाराओं का उदय-** औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कुछ नवीन राजनैतिक विचारधाराओं का जन्म
एवं विकास हुआ। इसमें 'लैसेज फेयर' अथवा आर्थिक उन्मुक्तवाद एक प्रमुख विचारधारा थी। इस सिद्धान्त के अनुसार
आर्थिक क्रियाकलापों में पूंजीपतियों की पूर्ण स्वतंत्रता एवं सरकार के किसी तरह से हस्तक्षेप पर निर्बंधन था। 1776 ई. में
एडम स्मिथ की युगान्तकारी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' प्रकाशित हुई, जिसमें वाणिज्यवाद की नियामक एवं एकाधिकारपरक
अवधारणाओं की तीव्र आलोचना की गई थी क्योंकि यह तत्कालीन आर्थिक माहौल के लिए अप्रासंगिक होता जा रहा था।
इस तरह की स्थिति में आर्थिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका यथासंभव कम से कम होने की बात तय की गई। सरकार की
भूमिका को जान-माल की सुरक्षा, कानून-व्यवस्था, न्यायालय आदि क्षेत्रों तक ही सीमित रखने की वकालत की गई। सिर्फ
व्यवसाय ही नहीं, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि मामलों में भी शासनतंत्र के हस्तक्षेप करने की जरूरत से इंकार करने की बात
निश्चित की जाने लगी। नवोदित पूंजीपति वर्ग में यह आर्थिक दर्शन काफी लोकप्रिय हुआ।
अंततः हम कह सकते हैं कि औद्योगिक क्रांति न सिर्फ वस्तुओं के उत्पादन में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि से संबंधित थी
वरन् इसने मानव-जीवन के समस्त पहलुओं को प्रभावित किया। इससे प्रभावित होकर साम्राज्यवाद, पूंजीवाद एवं समाजवाद
जैसी विचारधारा ने भी जोर पकड़ा।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-5

इटली का एकीकरण *(Unification of Italy)*

(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-I के विषय संख्या-5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)

19वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों के मध्य इटली महज एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' के रूप में था। इस समय इटली एक विखंडित क्षेत्र था, जो लगभग एक दर्जन स्वतंत्र राज्यों में बँटा हुआ था। इनमें से प्रत्येक राज्यों के शासकों के हित परस्पर टकराते रहते थे। ये सभी शासक इटली की राजनीतिक एकता के प्रबल विरोधी थे क्योंकि इटली की एकता के फलस्वरूप उन्हें अपनी गद्दी से हाथ धोने की आशंका थी। ऑस्ट्रिया का दबदबा भी इटली की राजनीति में था।

लेकिन इटली के इन विभिन्न राज्यों के शासकों के न चाहते हुए भी 19वीं शताब्दी में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिसके फलस्वरूप इटली में राष्ट्रवाद का उदय संभव हो सका। इस दौरान बहुत सी क्रांतिकारी संस्थाओं का जन्म हुआ जिसने इटली के एकीकरण में बढ़-चढ़कर भाग लिया और अंततोगत्वा 1870 ई. में एक राष्ट्र के रूप में इटली का उदय हुआ। इटली के एकीकरण की प्रक्रियाओं को ठीक ढंग से समझने के लिए पहले हम यह देखते हैं कि इटली के एकीकरण के मार्ग में कौन-कौन सी प्रमुख बाधाएँ थीं।

एकीकरण में बाधाएँ *(Obstacles in Unification)*

इटली के एकीकरण के मार्ग में अनेक आंतरिक एवं बाह्य बाधाएँ थीं। आंतरिक बाधाओं के अंतर्गत प्रथम तो यह कि देश की बहुसंख्यक जनसंख्या अशिक्षित एवं गरीब थी जिन्हें राष्ट्रीय एकता जैसे विषयों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। यद्यपि इटली के प्रबुद्ध एवं व्यापारी वर्ग अपने हितों के संरक्षण तथा अधिक लाभ पाने की आशा से राष्ट्रीय एकता को आवश्यक मानते थे, परन्तु यह बात विशेष महत्त्व रखती है कि बिना आम जनता की जागरूकता एवं भागीदारी के राष्ट्रीय एकता व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं थी। द्वितीय, तत्कालीन इटली में अनेक छोटे-छोटे राजा राज्य कर रहे थे और उन्हें डर था कि राष्ट्रीय एकता के लिए चलाए गए आंदोलन उनके निरंकुश राजतंत्र तथा राजगद्दी के लिए खतरा साबित हो सकते हैं क्योंकि एकीकृत इटली में एक ही राजा हो सकता था। तृतीय, आंतरिक बाधाओं के अंतर्गत राजतंत्र का विरोध तो था ही साथ में वहाँ के कुलीन वर्ग का भी विरोध था, क्योंकि वे वहाँ पर स्वयं को चर्च, धर्मसंघ तथा शक्ति का रक्षक मानते थे और ऑस्ट्रिया इन सभी का संरक्षक था। चतुर्थ, **आर्थिक दृष्टिकोण से इटली में क्षेत्रीय आधार** पर व्याप्त आर्थिक विषमता थी; एक तरफ उत्तरी इटली अर्द्ध-औद्योगिक क्षेत्र था तो दूसरी ओर दक्षिणी इटली अत्यंत ही पिछड़ा एवं ग्रामीण क्षेत्र था। पाँचवाँ, एकीकरण के मार्ग में सामंत वर्ग एवं कुलीन वर्ग ही प्रमुख बाधक तत्व थे, जो सामंतवादी एवं जागीरदारी प्रथा को और भी मजबूत कर अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। चूँकि इटली में औद्योगिक पिछड़ापन अधिक था, अतः ऐसी स्थिति में जमीन के मालिकों का समाज में काफी वर्चस्व था। ये वर्ग अपने वर्गीय हितों की रक्षा हेतु राष्ट्रीय एकता को एक गंभीर समस्या मानते थे। छठा, इतनी गंभीर कठिनाइयों के बावजूद इटली में प्रांतीयता, संवैधानिकता एवं उदारवाद की भावनाएँ भी प्रबल थीं। एकीकरण के संबंध में मुख्यतः तीन विचारधाराओं का उदय हुआ- (a) 'मेजिनी का गणतंत्रवादी सिद्धांत' अर्थात् मेजिनी इटली का एकीकरण एक गणराज्य के रूप में चाहता था। गैरीबाल्डी भी इस मत का समर्थक था। (b) 'जोजाबर्टी का संघीय राज्य का सिद्धान्त' अर्थात् जोजाबर्टी पोप के अधीन इटली के प्रत्येक राज्यों के संघ का समर्थन करता था। (c) कावूर सार्डीनिया नामक राज्य परिवार के अधीन इटली का एकीकरण चाहता था। वह मूलतः संवैधानिक तथा सीमित राजतंत्र के सिद्धान्तों का समर्थक था। अतः कहा जा सकता है कि इन सभी का लक्ष्य तो इटली का एकीकरण ही था परन्तु उनकी पद्धति एवं उनके विचार में अंतर था।

बाह्य बाधाओं के अंतर्गत प्रथम बाधा थी- इटली में ऑस्ट्रिया का व्यापक प्रभाव। वास्तव में ऑस्ट्रिया के अधीन इटली के दो प्रांत-लोम्बार्डी एवं वेनेशिया थे। अतः निश्चित रूप से इटली में उसका प्रत्यक्ष स्वार्थ था और यही वह कारण था जिसके चलते इटली में चल रहे किसी आंदोलन को दबाने के लिए वह अपने आपको नैतिक रूप से जिम्मेदार मानता था। इसके अलावा 1815 की वियना कांग्रेस के अनुसार, ऑस्ट्रिया का चांसलर मेटरनिख अपने आपको 'यूरोप का पुलिस' समझता था और इस रूप में वह किसी भी यूरोपीय देशों में उदारवादी तथा राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलना अपना परम कर्त्तव्य मानता था। लोम्बार्डी एवं वेनेशिया जैसे इटली के प्रांत पर प्रत्यक्ष शासन के अतिरिक्त ऑस्ट्रिया से संबंधित राजपरिवार विभिन्न प्रांतों जैसे परमा, मेडोना एवं टस्कनी में भी शासन कर रहे थे। अतः ऑस्ट्रिया द्वारा यह बात कतई स्वीकार नहीं की जा सकती थी कि इटली में राष्ट्रीय एकता के फलस्वरूप इसके प्रभाव पर किसी भी प्रकार का खतरा उत्पन्न हो। एकीकरण में द्वितीय बड़ी बाधा थी- इटली में पोप की उपस्थिति। मध्य इटली में स्थित रोम पर पोप की सत्ता कायम थी। विखंडित इटली में रोम स्थित पोप के राजतंत्र का पर्याप्त अंतर्राष्ट्रीय धार्मिक महत्त्व था। यूरोप के कैथोलिक देश किसी भी हालत में पोप की सत्ता को नष्ट होने नहीं देना चाहते थे। साथ ही पोप को भय था कि इटली के एकीकरण से अन्य छोटे-छोटे राज्यों में उसके हस्तक्षेप के अधिकार समाप्त हो जाएंगे तथा ऐसा भी न हो जाये कि राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत एकीकृत इटली पोप के धार्मिक अधिकार को ही चुनौती दे बैठे। इसी डर और शंका के कारण एकीकरण के मुद्दों पर पोप अवरोध उत्पन्न करते रहते थे।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

एकीकरण: प्रक्रिया एवं विकास *(Unification: Process and Development)*

एकीकरण जैसे महत्त्वाकांक्षी कार्यों के मार्ग में अनेक बाधक तत्त्वों के बावजूद इटली में राष्ट्रीयता का प्रसार हुआ। इटली की पर्याप्त सांस्कृतिक एकता ने इस दिशा में सकारात्मक भूमिका अदा की। यद्यपि इटली अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था परन्तु नस्ल, धर्म एवं भाषा के मामलों में सुखद स्थिति यह थी कि वहाँ इतालवी भाषा तथा रोमन कैथोलिक धर्म प्रचलित था, जिससे लोगों में आपसी भाईचारे की भावना अंतर्निहित थी। फलतः वहाँ राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

फ्राँसीसी क्रांति और नेपोलियन बोनापार्ट की एकीकरण में भूमिका *(French Revolution and Role of Napoleon Bonaparte in Unification)*

नेपोलियन के विजय अभियानों से इटली में राष्ट्रीय चेतना में तीव्र वृद्धि हुई। फ्राँसीसी क्रांति के प्रसिद्ध नारे-'स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व' की भावना से ओत-प्रोत यह बहुमूल्य आदर्श नेपोलियन की सफल इटली विजय के क्रम में वहाँ प्रसारित हुआ। यह नारा एक ऐसा प्रभावशाली हथियार था जिससे इटली की जनता काफी प्रभावित हुई और इस प्रभाव के कारण ही उन्होंने नेपोलियन का तहे दिल से स्वागत किया। 1796-1814 ई. (लगभग दो दशकों की लंबी अवधि) तक इटली में फ्राँस का शासन बना रहा। सम्राट बनने के पश्चात् नेपोलियन द्वारा इटली के बूर्बो शासकों एवं ऑस्ट्रिया की सत्ता को समाप्त कर दिया गया। साथ ही पोप की सत्ता को भी सीमित कर दिया गया। इटली के कई छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार स्थापित कर फ्राँस की प्रभुता को स्थापित किया गया। इटली के कुल राज्यों को मिलाकर संपूर्ण इटली को तीन खंडों में विभाजित किया गया और इस रूप में यह असंभव नहीं दिखता था कि इटली का एकीकरण हो पाना महज समय की बात है। नेपोलियन के इस प्रयत्न से इटली में राजनैतिक एकीकरण की कल्पना साकार होने की बात सामने आने लगी थी। 1815 ई. में नेपोलियन की पराजय के बाद इटली के राजा मुरत ने अपने अधीन संपूर्ण इटली की एक कल्पना भी की तथा साथ ही उसने इतालवी संघ की भी घोषणा कर दी थी, परंतु इस योजना पर अमल नहीं हो सका। इससे पूर्व ही वहाँ पुनः प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्था ने अपने पैर जमा लिए। लेकिन यह क्षणभंगुर एकीकरण इटली के बुद्धिजीवियों के लिए अमूल्य प्रेरणास्रोत बन गया। इटली में लगभग दो दशकों तक नेपोलियन के शासन के फलस्वरूप वहाँ फ्राँसीसी कानून संग्रह, माप-तौल एवं प्रशासनिक व्यवस्थाएँ लागू की गईं। इससे इटली में राष्ट्रवादी भावना का बीजारोपण हुआ और फ्राँसीसी शासन से निजात पाने हेतु इटलीवासियों ने कई सार्थक प्रयास किए। इसी संदर्भ में कार्बोनरी नामक एक गुप्त क्रांतिकारी संगठन अस्तित्व में आया जिसका इटली के वृहद् भागों पर प्रभाव स्थापित हुआ। अंततः नेपोलियन के शासन ने इटली में राष्ट्रवादी भावनाओं के संचार में अमूल्य योगदान दिया, इसलिए नेपोलियन को 'इटली में राष्ट्रवाद का जन्मदाता' कहा जाता है।

हालाँकि नेपोलियन ने इटली में राष्ट्रवादी एवं लोकतांत्रिक भावनाओं को जागृत किया परन्तु इसमें भी कोई दो राय नहीं कि नेपोलियन के पतन के बाद यह भावना क्षीण पड़ने लगी। मेटरनिख की एक लंबी अवधि इस बात को प्रमाणित करती है कि ऑस्ट्रिया बिना किसी विशेष कठिनाई के इटली पर अपना व्यापक प्रभाव स्थापित करने में सफल रहा।

1815 के वियना व्यवस्था के तहत इटली में पुनः पुरातन व्यवस्था को कायम किया गया। इटली एक बार पुनः छोटे-छोटे सामंती राज्यों में विभक्त हो गया। ये सभी राज्य राजतंत्र, रूढ़िवादी चर्च तथा कुलीन वर्गों के अधीन हो गए। अतः हम कह सकते हैं कि वियना व्यवस्था से नेपोलियन द्वारा इटली में किए गए सारे प्रयास धूमिल हो गए।

एकीकरण का प्रथम चरण (कावूर का योगदान) *[First Phase of Unification (Contribution of Cavour)]*

कावूर सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली के एकीकरण को संपन्न करना चाहता था। वह इस बात से अच्छी तरह परिचित था कि इटली के एकीकरण के मार्ग में ऑस्ट्रिया एक बड़ी बाधा है। अतः ऑस्ट्रिया को बिना बाहर किए एकीकरण सफल नहीं हो सकता था और ऑस्ट्रिया को बाहर निकालने हेतु बाह्य सहायता आवश्यक रूप से अपेक्षित थी। इस मामले में सार्डीनिया को सिर्फ फ्राँस एवं इंग्लैंड से ही मदद की आशा दिखाई दे रही थी। अतः कावूर इटली के एकीकरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहानुभूति प्राप्त करने हेतु इटली के प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय बनाना जरूरी समझता था। संयोगवश इसी समय 1854 ई. में रूस तथा तुर्की के बीच प्रसिद्ध क्रीमिया का युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में इंग्लैंड तथा फ्राँस ने तुर्की की ओर से युद्ध में भाग लिया। इस समय कावूर ने भी सार्डीनिया की ओर से सेना भेजकर इंग्लैंड एवं फ्राँस की सहायता की। इस सहायता से सार्डीनिया के प्रति इंग्लैंड एवं फ्राँस में सहानुभूति की भावना मुखरित हुई। क्रीमिया युद्ध में विजय के उपरान्त आयोजित पेरिस शांति सम्मेलन में ऑस्ट्रिया के विरोध के बावजूद इंग्लैंड एवं फ्राँस के समर्थन से सार्डीनिया को विजय पंक्ति में बैठने का अवसर प्राप्त हुआ। इस सम्मेलन में इटली को अपनी वास्तविक स्थिति रखने का प्रथम सफल अवसर मिला तथा इटली की दुर्दशा हेतु मुख्य रूप से ऑस्ट्रिया के उत्तरदायित्व को रेखांकित किया गया। क्रीमिया युद्ध के पश्चात् फ्राँस का तत्कालीन शासक नेपोलियन तृतीय इटली की मदद हेतु तैयार हो गया और पीडमौंट-सार्डीनिया के साथ प्लाम्बियर्स का समझौता हुआ। इस समझौते के तहत फ्राँस द्वारा ऑस्ट्रिया के विरुद्ध पीडमौंट-सार्डीनिया को सैन्य सहायता देकर लोम्बार्डी एवं वेनेशिया नामक दो ऑस्ट्रियाई राज्य पीडमौंट को दिए जाने की बात तय हुई। बदले में पीडमौंट-सार्डीनिया द्वारा भी इटली के नीस एवं सेवाय का क्षेत्र फ्राँस

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

को दिए जाने की बात तय की गई। हालाँकि कावूर इटली के एकीकरण के पक्ष में था न कि सिर्फ ऑस्ट्रिया को इटली से बाहर निकालने के पक्ष में परन्तु तब भी उसने नीस एवं सवाय के क्षेत्र फ्राँस को दिए जाने संबंधी प्लांबियर्स संधि की शर्तों को स्वीकार कर लिया। अंततः ऑस्ट्रिया द्वारा पीडमौंट-सार्डीनिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया गया और इस स्थिति में फ्राँस भी ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गया। इस युद्ध में शुरू में इटली के प्रमुख ऑस्ट्रियाई राज्य लोम्बार्डी को मुक्त करा लिया गया। परन्तु कुछ ही दिनों में नेपोलियन तृतीय ने इस युद्ध से स्वयं को अलग कर लिया और ऑस्ट्रिया के साथ विलाफ्रेंका की संधि कर ली। इस बदली हुई स्थिति में भी कावूर ऑस्ट्रियां के विरुद्ध युद्ध जारी रखना चाहता था परन्तु पीडमौंट-सार्डीनिया के तत्कालीन शासक विक्टर इमैन्यूएल ने इस बात की अनुमति नहीं दी। अतः एकीकरण के इस प्रथम चरण में नेपोलियन तृतीय की सहायता से लोम्बार्डी की प्राप्ति हुई। 1859 ई. में ज्यूरिख की संधि के अनुसार लोम्बार्डी पीडमौंट-सार्डीनिया को मिला तथा वेनेशिया पर ऑस्ट्रियाई अधिकार पूर्ववत् बना रहा। यह बात जगजाहिर हो गई कि इटली का एकीकरण पीडमौंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में ही संभव हो सकेगा।

एकीकरण का द्वितीय चरण *(Second Phase of Unification)*

ज्यूरिख की संधि के शर्तों के अनुसार पीडमौंट पर सैन्य बल के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया परन्तु जन आंदोलन के मामले पर यह संधि मौन थी। यह पक्ष इसलिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि जिस समय ऑस्ट्रिया व इटली के बीच युद्ध चल रहा था उसी समय ऑस्ट्रिया के प्रभाव क्षेत्र वाले मध्य इटली के राज्य-परमा, मोडेना, टस्कनी और साथ ही पोप के राज्य जैसे बोलेगना एवं रोमेगना में जनता ने तीव्र विद्रोह कर दिया, जिससे वहाँ के शासकों को अपना-अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा। इन क्षेत्रों की जनता ने पीडमौंट-सार्डीनिया से अपने राज्यों में इन क्षेत्रों के विलय हेतु आग्रह किया। अंततः कावूर की सक्रियता से जनमत संग्रह के आधार पर 1860 ई. में परमा, मोडेना, टस्कनी, रोमेगना एवं बोलेगना जैसे राज्य पीडमौंट-सार्डीनिया में मिला लिए गए। अब वेनेशिया को छोड़कर उत्तरी एवं मध्य इटली के मिलने से एक शक्तिशाली इटली राज्य अस्तित्व में आया। इस संबंध में सन् 1860 में पीडमौंट-सर्डीनियाई शासक विक्टर इमैन्यूएल द्वारा तूरीन (Turin) में संयुक्त इटली की संसद का उद्घाटन किया गया। इसी के साथ इटली के एकीकरण का द्वितीय चरण सफल हुआ।

एकीकरण का तृतीय चरण (गैरीबाल्डी की भूमिका) *[Third Phase of Unification (Role of Garibaldi)]*

इटली के एकीकरण का यह चरण गैरीबाल्डी के जोश, त्याग एवं कावूर की सफल दूरदर्शिता से संभव हो सका। इस चरण में सिसली एवं नेपल्स दो इतालवी राज्य का एकीकरण पीडमौंट-सार्डीनिया के साथ हुआ। मुख्य रूप से यह एकीकरण कावूर की सफल कूटनीति एवं गैरीबाल्डी की तलवार के सफल प्रयोग का परिणाम था। ये दोनों राज्य इटली के दक्षिणी क्षेत्र में अवस्थित थे। इस राज्य की जनता अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करती रहती थी। 1860 ई. में जब नेपल्स एवं सिसली की जनता का विद्रोह जोरों पर था, गैरीबाल्डी ने वहाँ की जनता के आग्रह पर लाल कुर्ती कहे जाने वाले एक हजार स्वयंसेवकों की सहायता से सिसली को जीत लिया। सिसली विजय के उपरांत गैरीबाल्डी स्वयं को विक्टर इमैन्यूएल के नाम से वहाँ का अधिनायक घोषित किया। इसी कड़ी में नेपल्स पर भी आक्रमण कर उसे जीत लिया गया। इस विजय से उत्साहित होकर गैरीबाल्डी ने इटली के शेष बचे क्षेत्र वेनेशिया और रोम पर भी आक्रमण करने की योजना बनाई। ऐसी स्थिति में ऑस्ट्रिया एवं फ्राँस के साथ युद्ध छिड़ सकता था क्योंकि वेनेशिया ऑस्ट्रिया के अधिकार में था और रोम में पोप की सुरक्षा हेतु फ्राँसीसी सेना तैनात थी। अतः स्थिति की गंभीरता को देखते हुए यह जरूरी था कि गैरीबाल्डी के इस उत्साहपूर्ण कदम को रोका जाये। इस स्थिति में कावूर ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए समस्या का सफलतापूर्वक समाधान किया। अंततः सिसली एवं नेपल्स में जनमत संग्रह के आधार पर उसे पीडमौंट-सार्डीनिया में मिला लिया गया।

एकीकरण का चतुर्थ चरण *(Fourth Phase of Unification)*

इटली के शेष बचे दो राज्यों-वेनेशिया एवं रोम का एकीकरण होना शेष था। इस स्थिति में प्रशा-इटली सहयोग काफी कारगर साबित हो सकता था। इसी को ध्यान में रखकर प्रशा और इटली के मध्य एक संधि हुई जिसके तहत प्रशा-ऑस्ट्रिया के बीच युद्ध होने की स्थिति में इटली द्वारा प्रशा को सैन्य सहायता एवं बदले में प्रशा द्वारा इटली के वेनेशिया का प्रांत दिलाना तय हुआ। 1866 ई. में प्रशा-ऑस्ट्रिया के मध्य होने वाले सेडोवा के युद्ध में प्रशा की विजय तत्पश्चात् प्राग की संधि के अनुसार वेनेशिया पर से ऑस्ट्रियाई नियंत्रण समाप्त हो गया और वेनेशिया का क्षेत्र पीडमौंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली में शामिल हो गया।

एकीकरण का अंतिम चरण *(Last Phase of Unification)*

अब सिर्फ इटली में रोम का राज्य ही शेष था। यह अवसर तब आया जब 1870 ई. में फ्राँस-प्रशा के मध्य सेडान का युद्ध छिड़ गया। इस स्थिति में फ्राँस द्वारा पोप के राजतंत्र की सुरक्षा हेतु रोम में उपस्थित सेना को वापस बुला लिया गया। पीडमौंट-सार्डीनियाई शासक विक्टर इमैन्यूएल द्वितीय ने इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए रोम को जीत लिया। इसके बाद वहाँ हुए जनमत संग्रह के आधार पर इटली के एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हुई तथा रोम संयुक्त इटली की राजधानी बनी। एकीकृत इटली विश्व के मानचित्र पर एक बड़ी शक्ति बनकर उभरी और इस तरह 1815 की वियना व्यवस्था द्वारा स्थापित मापदंड ध्वस्त हो गए।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इटली के एकीकरण के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व
(Important Personalities in Unification of Italy)

1. मेजिनी- मेजिनी का जन्म 1805 ई. में जेनेवा में हुआ था। 1820 ई. में वह कार्बोनरी नामक गुप्त क्रांतिकारी संस्था का सदस्य बना। 1830 ई. में फ्रांस में हुई क्रांति से प्रभावित होकर जब पीडमौंट के देशभक्तों द्वारा निरंकुश राजतंत्र के विरुद्ध विद्रोह किया गया तो मेजिनी ने भी इस विद्रोह में बढ़-चढ़कर भाग लिया, हालाँकि यह प्रयास निष्फल रहा। मेजिनी ने यह अनुभव किया कि कार्बोनरी के सिद्धांत तथा योजनाएँ इटली को विदेशी शिकंजे से मुक्त नहीं करा सकती हैं। अत: उसने इसके लिए इटालियन युवकों में देशभक्ति एवं सच्चरित्रता की भावना को काफी अहमियत प्रदान की। उसे विश्वास था कि इसी शक्ति के आधार पर ही इटली को विदेशी दासता से मुक्त कराकर एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है। इसी को ध्यान में रखकर मेजिनी ने 1831 ई. में 'यंग इटली' नामक संस्था की स्थापना की। यह एक गुप्त संस्था थी जिसकी अनेक शाखाएँ इटली में खोली गईं। इस संस्था का उद्देश्य एवं कार्यप्रणाली इटलीवासियों में देश प्रेम, राष्ट्र के एकीकरण की अनिवार्यता, प्राचीन राष्ट्रीय गौरव एवं देश के लिए त्याग और बलिदान की भावना जागृत करना था। मेजिनी आदर्शवादी तथा गणतंत्रवादी समर्थक था। वह विदेशी सत्ता की समाप्ति एवं इटली की स्वतंत्रता हेतु विदेशी सत्ता से सहायता को निर्मूल समझता था। 1848 ई. में वियना की क्रांति तथा मेटरनिख का ऑस्ट्रिया छोड़कर भागना दोनों ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे प्रेरित होकर इटली में ऑस्ट्रियाई अधिकार वाला क्षेत्र लोम्बार्डी में वहाँ की जनता द्वारा विद्रोह कर दिया गया। पोप के राज्य वाले इलाके में भी विद्रोह हुआ तथा 1849 में वहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई। तत्पश्चात् मेजिनी को वहाँ का राष्ट्रपति बनाया गया तथा गणतंत्र की रक्षा का भार गैरीबाल्डी को सौंपा गया। परन्तु यह सफलता कम समय तक ही बरकरार रह सकी और क्रांति विफल हो गई। यद्यपि एकीकरण के संबंध में मेजिनी की कोई भूमिका रेखांकित नहीं की जा सकती परन्तु इतना तो तय है कि मेजिनी के अथक प्रयासों से इटली में देशभक्ति की भावना का अधिकतम प्रसार हुआ जिससे एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।
2. कावूर- इटली के एकीकरण में कावूर की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण है। एकीकरण की प्रक्रिया को ठोस आधार प्रदान करने का श्रेय उसे ही दिया जाता है। कावूर का जन्म 1810 ई. में तूरीन (Turin) में हुआ था। वह इंग्लैंड के संसदीय शासन प्रणाली से विशेष रूप से प्रभावित था। 1852 ई. में वह पीडमौंट-सार्डीनिया का प्रधानमंत्री बना। उसने इस बात का अनुभव किया कि कूटनीति, शक्ति एवं विदेशी सहायता के माध्यम से ही पीडमौंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण संपन्न हो सकता है। पीडमौंट-सार्डीनिया के आर्थिक स्थिति को उन्नत करने के उद्देश्य से उसने कृषि, वाणिज्य-व्यापार एवं उद्योगों को विशेष तरजीह दी जिससे वहाँ की अर्थव्यवस्था अत्यंत ही सुदृढ़ हो गई। एक सुदृढ़ आंतरिक स्थिति के आधार पर उसने विदेश नीति को विकसित किया। क्रीमिया युद्ध (1853-56) में रूस के पक्ष में इंग्लैंड एवं फ्रांस को सैन्य सहायता जैसे कूटनीतिक सहयोग से उसने इन देशों की सहानुभूति प्राप्त की, जिसका उपयोग कर फ्रांस के साथ प्लाम्बियर्स की गुप्त संधि की और इस संधि के अनुरूप फ्रांस के सहयोग से इटली स्थित ऑस्ट्रियाई क्षेत्र लोम्बार्डी को हस्तगत कर लिया। यह कावूर की एक महान सफलता थी। कावूर की कूटनीतिक सफलता मध्य इतालवी राज्य-परमा, मोडेना, टस्कनी आदि के संबंध में हुए जनमत संग्रह में भी देखी जा सकती है, जहाँ राष्ट्रवादी विद्रोह के परिणामस्वरूप होने वाले जनमत संग्रह के आधार पर पीडमौंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली में विलय कर लिया गया। नेपल्स एवं सिसली के विलय के मुद्दे पर भी कावूर ने एक सफल कूटनीतिज्ञ का परिचय दिया। 1869 ई. में गैरीबाल्डी ने सिसली एवं नेपल्स जैसे दक्षिणी इतालवी राज्यों को वहाँ के निरंकुश राजाओं से मुक्त कराकर उस पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् गैरीबाल्डी रोम एवं वेनेशिया पर भी अधिकार करने के लिए तत्पर था। यह स्थिति निश्चित रूप से पीडमौंट-सार्डीनिया को फ्रांस एवं ऑस्ट्रिया जैसे देशों के साथ युद्ध की स्थिति में डाल सकता था क्योंकि फ्राँसीसी सेना के अधीन रोम में पोप का राजतंत्र सुरक्षित था जबकि वेनेशिया ऑस्ट्रिया के अधिकार क्षेत्र में थे। अत: कावूर महान कूटनीति का सहारा लेकर गैरीबाल्डी के इस योजना को स्थगित करने में सफल रहा। साथ ही सिसली एवं नेपल्स में जनमत संग्रह कराकर उसे पीडमौंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली में विलय कर लिया गया। इस तरह हम कह सकते हैं कि कावूर की महान कूटनीतिक सफलता के परिणामस्वरूप वेनेशिया एवं रोम को छोड़कर संपूर्ण इटली का एकीकरण संभव हो सका।
3. गैरीबाल्डी- गैरीबाल्डी इटली का एक महान देशभक्त था। वह मुख्य रूप से मेजिनी के विचारों का दृढ़ समर्थक था तथा मेजिनी की संस्था 'यंग इटली' का सदस्य था। उसकी गुरिल्ला तथा छापामार युद्ध पद्धति इटली के एकीकरण के संबंध में विशेष महत्त्व रखती है। 1834 ई. में इटली के प्रमुख क्षेत्र 'सेवाय' में हुए मेजिनी के आंदोलन में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया परन्तु यह विद्रोह असफल रहा। 1848 ई. में इटली में होने वाले विद्रोह में भी वह काफी सक्रिय रहा तथा ऑस्ट्रियाई सेना का डटकर सामना किया। पोप के राज्य में पोप की सत्ता को समाप्त कर मेजिनी की अध्यक्षता में स्थापित होने वाले गणतंत्र में भी उसने विशेष भूमिका निभाई। इस समय तक वह मेजिनी के गणतंत्रवादी विचारों से व्यापक रूप से प्रभावित था परन्तु 1856 ई. में कावूर से हुई भेंट के पश्चात् वह वैध राजसत्ता का पक्षधर हो गया। 1860 ई. में सिसली एवं नेपल्स में होने वाले विद्रोह, जो वहाँ के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक के विरुद्ध किया गया था, का लाभ उठाते हुए गैरीबाल्डी ने 1860 ई. में सिसली एवं नेपल्स पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। उसके इन प्रयासों से मेजिनी एवं कावूर दोनों को अपने लक्ष्यों को और अधिक स्पष्ट करने में सफलता मिली।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-6

जर्मनी का एकीकरण और बिस्मार्क
(Unification of Germany and Bismarck)

**** (इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के विषय संख्या 5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)*

19वीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी भी इटली की भाँति एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' मात्र था। भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से जर्मनी के राज्यों को तीन भागों में बाँटकर देखा जा सकता है- इसके उत्तरी भाग में प्रशा, सैक्सनी, हनोवर, फ्रैंकफर्ट आदि थे, मध्यवर्ती भाग में राइनलैंड का प्रसिद्ध क्षेत्र एवं दक्षिणी भाग में मुख्यतः बुटेम्बर्ग, बवेरिया, प्लैटिनेट आदि थे। इन सभी राज्यों में प्रशा की स्थिति विशिष्ट थी जो आकार एवं सैन्य दृष्टि से सर्वाधिक शक्तिशाली था।

जर्मनी के एकीकरण में प्रमुख बाधक तत्त्व
(Major Obstructive Factors in the Unification of Germany)

जर्मनी के एकीकरण में प्रमुख बाधक तत्त्व ऑस्ट्रिया द्वारा जर्मनी के आंतरिक मामलों में अत्यधिक व अनुचित हस्तक्षेप करना था। ऑस्ट्रिया जर्मनी के विविध भागों में उदित राष्ट्रवादी भावनाओं के विरुद्ध था। वह चाहता था कि जर्मनी में राष्ट्रीयता स्थापित न हो और उसका स्वार्थ भी जर्मनी के बिखराव में ही था। इसके अतिरिक्त जर्मनी के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन किसी भी परिस्थिति में अपनी यथास्थिति को बनाए रखना चाहते थे क्योंकि एकीकृत जर्मनी अथवा जर्मनी में विकसित हो रही राष्ट्रवादी विचारधारा के द्वारा उसकी वर्तमान स्थिति पर गंभीर संकट उत्पन्न होने की आशंका थी। इसी कारण वहाँ के तत्कालीन छोटे-छोटे शासक एकीकृत जर्मनी में किसी भी तरह की दिलचस्पी नहीं ले रहे थे। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि प्रारंभ में तो ये सभी बाहरी राष्ट्र जर्मनी के एकीकरण के मुद्दों पर गंभीर नहीं थे परन्तु बिस्मार्क की सफल कूटनीति ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बिस्मार्क ने जर्मनी की एकता को युद्ध का प्रश्न बना कर जर्मनी के एकीकरण का महान् कार्य सफल किया।

जर्मनी के एकीकरण में सहायक तत्त्व
(Assisting Factors in the Unification of Germany)

फ्राँसीसी क्रांति एवं नेपोलियन का प्रभाव *(French Revolution and Napoleon's Influence*

फ्राँसीसी क्रांति एवं नेपोलियन के प्रभाव ने जर्मनी के एकीकरण के लिए एक मजबूत आधारशिला तैयार की। 1805 में नेपोलियन बोनापार्ट ने ऑस्टरलिट्ज के युद्ध (Battle of Austerlitz) में ऑस्ट्रिया को भीषण शिकस्त दी और उसके पश्चात् हुए प्रेसबर्ग की संधि के अनुसार जर्मनी में पवित्र रोमन सम्राट का प्रभुत्व समाप्त हो गया। इस रूप में ऑस्ट्रियाई वर्चस्व में कमी आई और वहाँ नेपोलियन के हस्तक्षेप में व्यापक वृद्धि हुई। नेपोलियन द्वारा जर्मनी में किए गए प्रशासनिक सुधारों के तहत संपूर्ण जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर कुल 39 राज्यों की स्थापना कर उसका एक संघ बनाया गया। यह संघ इतिहास में 'राइन संघ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस बदली हुई स्थिति में संपूर्ण जर्मनी में फ्राँसीसी कानून लागू किया गया। यह पहला अवसर था जब संपूर्ण जर्मनी में कानून के आधार पर एकता स्थापित की गई थी। यह कानून उदारवादी विचारों पर आधारित था, इसलिए इस कानून के प्रति विशेष विरोध नहीं हुआ। परन्तु नेपोलियन द्वारा जर्मनी पर हुए आक्रमण के फलस्वरूप राइनलैंड का पश्चिमी भाग फ्राँस के अधीन हो गया जिससे जर्मनी में फ्राँस के विरुद्ध प्रतिक्रिया खुलकर सामने आई और यही वह कारण है जिससे जर्मनवासियों में राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवादी विचार बलवती होने लगी। यद्यपि नेपोलियन महाद्वीपीय व्यवस्था से जर्मन उद्योग-व्यवसाय को तीव्र आघात पहुँचा और जर्मनी की अर्थव्यवस्था गंभीर रूप से प्रभावित हुई लेकिन नेपोलियन के कुछ प्रयास जैसे आर्थिक दृष्टिकोण से जर्मनी में गिल्ड प्रणाली को समाप्त कर मुक्त वाणिज्य नीति का प्रचार एवं प्रसार, विभाजित जर्मनी के 39 राज्यों को एक संघ में स्थापित करने के फलस्वरूप जर्मनवासियों में एकता का अहसास करवाना और उनमें एकीकृत जर्मनी के स्वप्न पालना विशेष महत्त्वपूर्ण थे।

वियना कांग्रेस एवं जर्मन एकीकरण *(Vienna Congress and German-Unification)*

1815 में आयोजित वियना कांग्रेस एवं उसके पश्चात् ऑस्ट्रियाई शासक मेटरनिख के प्रभावों से जर्मन देशभक्तों की सारी आशाएँ धूमिल हो गई। गौरतलब है कि नेपोलियन के पतन के पश्चात होने वाले वियना कांग्रेस में जर्मनी में नेपोलियन द्वारा स्थापित 'राइन संघ' को समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह जर्मनी को विभिन्न उपराज्यों में बाँटकर उसका एक ढीला-ढाला संघ बनाया गया और

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

ऑस्ट्रिया को उस संघ का अध्यक्ष बनाया गया। ऑस्ट्रियाई सम्राट मेटरनिख द्वारा वहाँ पर प्रतिक्रियावादी शासन के नए-नए तरीके अपनाए गए। दक्षिणी जर्मनी के क्षेत्रों में विकसित हो रही उदारवादी प्रवृत्ति यथा विश्वविद्यालय एवं प्रेस की स्वतंत्रता के सार्थक प्रयास ने मेटरनिख की शंका में वृद्धि कर दी। अंततः इन पर कठोर नियंत्रण लगाया गया और ये उदारवादी प्रयास तत्काल निरर्थक साबित हुए। मेटरनिख के इस प्रतिक्रियावादी प्रयासों के फलस्वरूप जर्मन देशभक्तों में घोर निराशा का संचार हुआ और उन्होंने विभिन्न क्रांतिकारी गुप्त समितियों के माध्यम से राष्ट्रीयता तथा राजनीतिक एकता के प्रयास को जारी रखा।

1830 एवं 1848 ई. की फ्राँसीसी क्रांति के प्रभाव *(Impacts of 1830 and 1848 French Revolution)*

1830 एवं 1848 में फ्राँस में हुई क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी के विभिन्न क्षेत्रों में भी विद्रोह की चिंगारी लग गई। 1830 की क्रांति के क्रम में ही जर्मन शासकों पर अपने यहाँ उदारवादी संविधान लागू करने के लिए प्रभावी दबाव पड़ा और अंततः इनमें से कुछ शासकों द्वारा संविधान लागू भी किया गया। परन्तु मेटरनिख के तीव्र दबाव में आकर इन शासकों को ये संविधान निरस्त करना पड़ा। 1848 की क्रांति ने पुनः एक बार जर्मन राष्ट्रवादियों में नई जागृति का संचार किया। वास्तव में इस क्रांति के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया में हुए व्यापक विद्रोह ने मेटरनिख की सत्ता को समाप्त कर दिया और उसने भागकर इंग्लैंड में शरण लिया। ऑस्ट्रिया के क्रांतिकारियों की इस महान विजय से अभिप्रेरित होकर जर्मनी के और राज्यों में भी विद्रोह हुए। फलतः अनेक जर्मन शासकों को विवश होकर उदारवादी संविधान लागू करने पड़े। परन्तु थोड़े ही दिनों में ऑस्ट्रियाई सेना द्वारा जर्मन क्रांतिकारियों के इस प्रयास को अंततोगत्वा कुचल दिया गया और एक बार पुनः चतुर्दिक प्रतिक्रिया का राज्य स्थापित हो गया।

औद्योगिक विकास एवं जोलवेरिन की स्थापना
(Industrial Development and Establishment of Zollverein)

प्रशा जैसे जर्मन राज्य के नेतृत्व में जोलवेरिन अर्थात् चुंगी संघ की स्थापना ने जर्मनी के आर्थिक एकीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस व्यवस्था के तहत सदस्य राज्यों के मध्य आपस में बिना चुंगी करों का भुगतान किए निर्बाध रूप से माल का आयात-निर्यात होने लगा। इस व्यवस्था से आंतरिक व्यापार को काफी बढ़ावा मिला और 1834 तक जर्मनी के लगभग प्रमुख राज्य जोलवेरिन की सदस्यता ग्रहण कर चुके थे। अतः आर्थिक आधार पर जर्मनी के एकीकरण ने इसके राजनीतिक एकीकरण को एक प्रगतिशील आयाम प्रदान किया चूंकि जोलवेरिन का नेतृत्व प्रशा कर रहा था अतः राजनीतिक एकीकरण की भूमिका प्रशा के नेतृत्व में ही तैयार होने लगी। इसी आर्थिक संघ के आधार पर प्रशा जर्मन राज्यों के नेता के रूप में सामने आया।

एकीकरण में कोयला और लोहा की भूमिका अर्थात् औद्योगिक विकास
(Role of Coal and Iron in Unification-Industrial Development)

जर्मनी के एकीकरण के संबंध में एक तरीके से औद्योगिक विकास अर्थात् कोयला और लोहा की भूमिका ने भी राजनीतिक एकता की पृष्ठभूमि तैयार की। प्रशा के नेतृत्व में आर्थिक संघ जोलवेरिन अस्तित्व में आ चुका था जिसने जर्मनी की राजनीति को प्रोत्साहित किया था। औद्योगिक क्रांति से इस व्यवस्था को पर्याप्त बढ़ावा मिला। चूंकि प्रशा के क्षेत्रों में कोयले एवं लोहे के प्रचुर भंडार थे और वह जोलवेरिन का नेतृत्वकर्ता के रूप में भी उभरा था, अतः वहाँ नए-नए उद्योग-धंधों एवं रेलमार्गों के निर्माण को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सूती वस्त्रोद्योग का तो कायाकल्प ही हो गया। इस समय औद्योगिक विकास में रेलवे ने भी पर्याप्त निर्णायक भूमिका निभाई। बड़ी मात्रा में रेलवे लाइन का विस्तार हुआ। जर्मनी के प्रत्येक प्रमुख शहरों को रेलों के द्वारा जोड़ दिया गया। फलतः जर्मनी में भौगोलिक एकता की भावना को बल मिला और आवागमन में तीव्रता आई। व्यापार के विकास हेतु आदर्श स्थिति बनी, एक-क्षेत्र के लोगों का दूसरे क्षेत्र के लोगों के साथ वैचारिक आदान-प्रदान स्थापित हुआ। राइन क्षेत्र के कोयले एवं लोहे की खानों के अधिकाधिक उपयोग से जर्मनी के तत्कालीन व्यवस्था में नवीन आयाम जुड़ गए। पर्याप्त औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र में भी एक नवीन युग का आगाज हुआ। औद्योगीकरण के फलस्वरूप पूंजीपतियों एवं उद्योगपतियों का प्रभाव बढ़ा और इस वर्ग ने जर्मन राजनीति में विशेष रूप से सक्रियता दर्ज कराई। यह वर्ग जर्मनी के एकीकरण एवं एक मजबूत केन्द्रीय सत्ता की स्थापना के पक्षधर थे ताकि उनके व्यावसायिक हितों को संरक्षण मिल सके। औद्योगीकरण प्रशा जैसे राज्यों के लिए विशेष रूप से लाभप्रद रहे और प्रशा को एक शक्तिशाली सेना के गठन में सफलता मिली। औद्योगीकरण में जो आवश्यक तत्त्व था वह विशेष रूप से कच्चे माल की प्राप्ति एवं एक निश्चित बाजार की आवश्यकता थी। इस दृष्टि से संयुक्त जर्मनी एक महान शक्ति के रूप में उपनिवेशों की होड़ में यथासंभव स्थान बनाने में सफल हो सकता था। अतः सभी उद्योगपति अपने व्यावसायिक हितों को ध्यान में रखकर प्रशा को सहयोग देने हेतु बढ़-चढ़कर भाग ले रहे थे। यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट थी कि जर्मनी के एकीकरण के एक महान पक्ष के रूप में कोयले एवं लोहे पर विकसित हुए औद्योगीकरण को रेखांकित किया जा सकता है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

स्याही और कागज अर्थात् दार्शनिकों की भूमिका *(Ink and Paper-Role of Philosophers)*

जर्मनी में राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास में प्रबुद्ध वर्गों की भी उल्लेखनीय भूमिका रही। इस संबंध में हीगल, इमैनुएल कांट, हम्बोल्ट, नोवलिस आदि का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से जनमानस में राष्ट्र प्रेम एवं राष्ट्र गौरव की भावनाओं का प्रसार किया। हीगल ने बताया कि राज्य ही सार्वलौकिक विचारधारा का सर्वोत्तम रूप है। अत: राज्य की सत्ता एवं स्थान सर्वाधिक ऊपर है। प्रशा का चांसलर बिस्मार्क हीगल के राज्य के सार्वभौम सत्ता के विचारधारा से काफी प्रभावित था। इसी संबंध में इमैनुएल कांट की भूमिका भी प्रशंसनीय रही जिन्होंने जर्मन दर्शन को एक नई दिशा दी और जर्मन उदारवाद को स्वतंत्रता का आदर्श देकर उसमें निखार लाया। हम्बोल्ट, जो प्रशा का शिक्षामंत्री था ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मुद्दों की जोरदार वकालत की तथा उसी परिश्रम का प्रतिफल था कि जर्मन उदारवादियों को प्रेस की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। नोवलिस जो एक महान लेखक एवं कवि था, उसकी रचनाओं से जर्मनी का सांस्कृतिक जीवन स्पष्ट रूप से उजागर हुआ। इसके अलावा जर्मनी में राष्ट्रीय चेतना के विकास में जर्मन कवि आण्डर्ट का भी सराहनीय योगदान रहा, जिसने देश प्रेम से भरी कविताओं के माध्यम से जर्मन वासियों में राष्ट्रवादी विचारों को सच्चे रूप में नई दिशा प्रदान की। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जर्मनी में कवियों ने राष्ट्र की महानता के गीत गाए, दार्शनिकों ने जर्मनी को एक महान देश बताया, इतिहासकारों ने जर्मनी के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाला तो साहित्यकारों एवं लेखकों ने जर्मन वासियों में राष्ट्रीय भावनाओं को जगाया। इन्हीं सब तत्त्वों के अवलोकन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जर्मनी के एकीकरण के संदर्भ में स्याही एवं कागज की शक्ति ने राष्ट्रवाद के विकास में सराहनीय कार्य किए।

बिस्मार्क और जर्मनी का एकीकरण: रक्त और लोह की नीति
(Bismarck and German Unification: Policy of Blood and Iron)

जर्मनी का एकीकरण मूलत: कोयला और लोहा, स्याही एवं कलम तथा रक्त और लोह नामक कुल तीन प्रबल नीतियों का समन्वित प्रतिफल था। बिस्मार्क द्वारा रक्त एवं लौह अर्थात युद्ध की नीति का अवलंबन कर जर्मनी के एकीकरण के पुनीत कर्त्तव्य का सफलतापूर्वक निर्वहन अपने आपमें विशिष्ट महत्त्व रखता है। 1862 में प्रशा का चांसलर बनने के पश्चात् बिस्मार्क ने मुख्य रूप से अपने रक्त एवं लौह विषयक नीति को सफलतापूर्वक संचालित किया। उसे प्रशा की शक्ति एवं सेना में अटूट विश्वास था। यही कारण है कि वह प्रशा के नेतृत्त्व में ही जर्मनी के एकीकरण का स्वप्न देखता था। बिस्मार्क को यह दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी उदारवादी आदर्शों के लिए नहीं, वरन् शक्ति हेतु प्रशा की ओर देख रहा है। वह इस बात पर जोर देता था कि जर्मनी की समस्या का समाधान बौद्धिक भाषणों, आदर्शवादी बातों या बहुमत के निर्णयों से नहीं वरन् प्रशा की अगुवाई में रक्त एवं युद्ध अर्थात् बलिदान देकर ही संभव हो सकेगा। वस्तुत: बिस्मार्क द्वारा इस नीति पर विशेष जोर देने का एकमात्र कारण तत्कालीन यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में अंतर्निहित तत्त्व थे जैसे यूरोप के तत्कालीन प्रभावशाली देश- इंग्लैंड, रूस, फ्रांस और ऑस्ट्रिया जर्मन एकीकरण के पक्ष में कदापि नहीं थे। बिस्मार्क जर्मनी में एकता के लिए विदेशी सहायता की अपेक्षा नहीं करता था, साथ ही वह यह भी आशा नहीं करता था कि जर्मनी के छोटे-छोटे शासक जर्मनी के एकीकरण में सहायक सिद्ध होंगे। बिस्मार्क को इस बात पर पक्का विश्वास था कि जर्मनी की एकता के लिए प्रशा से युद्ध करना ही सर्वोत्तम मार्ग होगा और इन युद्धों के द्वारा जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना जगाकर एवं जर्मनवासियों में अपने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कराकर प्रशा में मिलने हेतु प्रेरित करना ही कारगर होगा। बिस्मार्क की लौह एवं युद्ध की नीति प्रशा की सामरिक नीतियों से भी मेल खाती थी। अतीत में प्रशा को फ्रेडरिक महान ने सामरिक दृष्टिकोण से एक महान राज्य बनाने की कोशिश की थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी के उत्तरी राज्यों ने लगभग 1862 ई. तक यह भलीभाँति देख लिया था कि जर्मन संघ से ऑस्ट्रिया को तब तक निष्कासित नहीं किया जा सकता था जब तक प्रशा एवं ऑस्ट्रिया के बीच खुलेआम आमने-सामने भीड़ंत न हो जाय। यह वह नीति थी जो निश्चित रूप से बिस्मार्क की नीति से मेल खाती थी क्योंकि बिस्मार्क का जर्मनी के एकीकरण विषयक सिद्धान्त मूल रूप से प्रशा के राज्य का महज विभिन्न जर्मन राज्यों पर विस्तार मात्र था। यह महज संयोग मात्र ही था कि प्रशा का चांसलर बिस्मार्क एवं सम्राट् विलियम प्रथम के राजनीतिक विचारों में अपेक्षित समानता थी, अत: एकीकरण के इस अभियान में अपने सम्राट् का पूरा सहयोग एवं समर्थन प्राप्त हुआ। जर्मनी के एकीकरण हेतु बिस्मार्क ने सफल कूटनीति का संचालन किया, विदेशी शक्तियों से समझौते किए एवं युद्ध लड़े। कुल मिलाकर 1864-70 के मध्य की अवधि में उसने डेनमार्क, ऑस्ट्रिया तथा फ्रॉस को पराजित कर जर्मनी के एकीकरण के कार्यों का सफलतापूर्वक समापन किया।

बिस्मार्क के नेतृत्त्व में जर्मनी का एकीकरण: विभिन्न चरण
(German Unification Under the Leadership of Bismarck: Different Phases)

एकीकरण का प्रथम चरण (डेनमार्क के साथ युद्ध-श्लेसविग और होलस्टीन की समस्या)

बिस्मार्क इस बात को अच्छी तरह से समझता था कि ऑस्ट्रिया को जर्मनी से निकाले बिना एकीकृत जर्मनी की परिकल्पना साकार नहीं हो सकती है। अत: वह कुछ ऐसी परिस्थितियों की खोज में था ताकि वह इस विषय पर अपनी कार्य योजना का क्रियान्वयन कर

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सके। यह संयोग ही था कि इसी समय श्लेसविग एवं होलस्टीन प्रदेशों की समस्या उत्पन्न हो गई और इस समस्या ने बिस्मार्क को अपनी योजनाओं व नीतियों को लागू करने का उपयुक्त अवसर दिया। स्वाभाविक रूप से बिस्मार्क प्रशा को सैन्य दृष्टि से शक्तिशाली बनाकर उसकी मारक शक्ति को जाँचना चाहता था ताकि प्रशा-ऑस्ट्रिया के संभावित युद्ध में ऑस्ट्रिया को किसी भी प्रकार का मौका नहीं दिया जा सके। इसी विचार से अभिप्रेरित होकर वह अपनी सेना को पहले ऑस्ट्रिया के साथ नहीं, बल्कि किसी दूसरे देश के साथ लड़ाना चाहता था। श्लेसविग एवं होलस्टीन जैसे डचियों की समस्या इसी जाँच के रूप में काम आयी।

वास्तव में, श्लेसविग एवं होलस्टीन नामक डच प्रदेश डेनमार्क प्रशासन के अधीन थी परन्तु उस पर डेनमार्क का अधिकार नहीं था। इन दो डच प्रदेशों के बारे में विशेष उल्लेखनीय बात ये थी कि श्लेसविग में जर्मन एवं डेन दोनों जातियों के लोग निवास करते थे जबकि होलस्टीन में मुख्यत: जर्मन जाति के लोग थे। परिस्थिति तब बदलने लगी जब 1863 में डेनमार्क के तत्कालीन राजा क्रिश्चियन नवम द्वारा एक नया संविधान बनाकर श्लेसविग को डेनमार्क में मिलाने एवं होलस्टीन को डेनमार्क से बांधने की चेष्टा की गई। डेनमार्क के राजा के इस अन्यायपूर्ण कदम के विरुद्ध उक्त दो डच प्रदेशों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। बिस्मार्क ने इस अवसर का लाभ जर्मनी एकीकरण हेतु उठाना चाहा। इसी कड़ी का महत्त्वपूर्ण पक्ष था- बिस्मार्क और ऑस्ट्रिया के बीच होने वाली संधि जो डेनमार्क के विरुद्ध होने वाले युद्ध में साथ-साथ लड़ने से संबंधित था। इसी संधि के अनुरूप ऑस्ट्रिया एवं प्रशा ने संयुक्त रूप से डेनमार्क को 48 घंटे का अल्टीमेटम देकर उपर्युक्त घोषणा को निरस्त करने की चेतावनी दी, परन्तु डेनमार्क के असंतोषजनक रुख ने ऑस्ट्रिया एवं प्रशा को आक्रमण करने के लिए बाध्य कर दिया और अंतत: डेनमार्क की पराजय हुई। पराजय के पश्चात् श्लेसविग एवं होलस्टीन डेनमार्क अधीनता से मुक्त होकर ऑस्ट्रिया एवं प्रशा के अंतर्गत आ गए। परन्तु यही वह मोड़ था जहाँ प्रशा एवं ऑस्ट्रिया के बीच विवाद की जड़ें उत्पन्न हुई थीं। इन दोनों प्रदेशों की भावी व्यवस्था के प्रश्न पर प्रशा एवं ऑस्ट्रिया के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गए। बिस्मार्क की इच्छा ऑस्ट्रिया के विरुद्ध इन प्रदेशों को प्रशा में मिलाना था, क्योंकि वास्तविकता यह थी कि बिस्मार्क ऑस्ट्रिया से भी युद्ध चाहता था और ऑस्ट्रिया की पराजय से ही जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हो सकता था। अपनी योजना को सफल बनाने के उद्देश्य से बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया के साथ 1865 में गेस्टाइन की संधि की और तय किया कि जब तक कोई अंतिम निर्णय नहीं हो जाता तब तक होलस्टीन ऑस्ट्रिया के अधीन एवं श्लेसविग प्रशा के अधीन रहेगा। वास्तव में देखा जाए तो गेस्टाइन की यह संधि बिस्मार्क की एक महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक विजय थी क्योंकि होलस्टीन प्रदेश में शुद्ध रूप से जर्मन जाति के लोग बहुसंख्यक थे और ये न सिर्फ सांस्कृतिक दृष्टिकोण से वरन् भौगोलिक दृष्टिकोण से भी प्रशा के निकट थे। ऐसी परिस्थिति में वह किसी भी समय होलस्टीन पर अधिकार कर सकता था। कुल मिलाकर यह व्यवस्था ऑस्ट्रिया के लिए गले की हड्डी बन गयी। निश्चित रूप से इस परिस्थिति ने बिस्मार्क एवं ऑस्ट्रिया के मध्य युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

एकीकरण का द्वितीय चरण (प्रशा-ऑस्ट्रिया युद्ध, 1866)

बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया से युद्ध के लिए श्लेसविग-होलस्टीन समस्या का भरपूर उपयोग किया। ऑस्ट्रिया से युद्ध करने से पूर्व उसने ऑस्ट्रिया को कूटनीतिक दृष्टि से एकाकी करने अर्थात् यूरोप में उसे मित्रहीन बनाने का निश्चय किया। इसके लिए उसने रूस, फ्राँस और पीडमोंट-सार्डीनिया से पृथक संधियाँ कर प्रशा-ऑस्ट्रिया युद्ध की भावी स्थिति में तटस्थ रहने का वचन प्राप्त कर लिया। 1854-56 में क्रीमिया युद्ध में प्रशा की तटस्थता तथा 1863 में पोलैण्ड में हुए विद्रोह के समय प्रशा द्वारा रूसी सरकार को सहायता के कारण प्रशा के प्रति रूसी सहानुभूति थी। वास्तव में बिस्मार्क यह कभी नहीं चाहता था कि प्रशा की सीमा पर एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में पोलैण्ड का अस्तित्व हो क्योंकि एक संगठित पोलैण्ड भविष्य में प्रशा के लिए बड़ा खतरा उत्पन्न कर सकता था। ऐसी स्थिति में उसने पोलैण्ड के विरुद्ध रूस को सहायता प्रदान की और जर्मनी के एकीकरण हेतु रूस की मित्रता हासिल की। बिस्मार्क ने फ्राँस के सम्राट नेपोलियन तृतीय से 1865 में एक संधि कर उसे तटस्थ रहने पर सहमत कर लिया। बिस्मार्क ने अस्पष्ट ढंग से कुछ ऐसे क्षेत्र को देकर नेपोलियन तृतीय को फ्राँसीसी तटस्थता का मूल्य चुकाने का वादा किया जो वास्तव में प्रशा के नहीं थे। इसके अलावा नेपोलियन तृतीय यह आशा कर रहा था कि प्रशा-ऑस्ट्रिया युद्ध के फलस्वरूप दोनों की शक्ति में होने वाली कमी फ्राँस को अपना प्रभाव बढ़ाने का उपयुक्त अवसर प्रदान करेगा।

बिस्मार्क ने प्रशा की सहायता हेतु इटली के ऑस्ट्रिया के प्रति तीव्र रोष का उपयोग किया। वास्तव में इटली का एक भाग वेनेशिया अभी तक ऑस्ट्रिया के अधीन ही बना हुआ था और बिना विदेशी सहायता के उसे स्वतंत्र नहीं किया जा सकता था। अत: बिस्मार्क ने इटली से एक संधि की जिसके तहत प्रशा द्वारा ऑस्ट्रिया पर आक्रमण करने की स्थिति में इटली द्वारा ऑस्ट्रियाई प्रभुत्व वाले वेनेशियाई क्षेत्र को जीत लेने की बात तय हुई। इस तरह से बिस्मार्क ने इटली को भी अपने पक्ष में कर लिया।

इसी बीच श्लेसविग-होलस्टीन के युद्धों को लेकर ऑस्ट्रिया-प्रशा के बीच तनाव बढ़ गया, जो 1866 में युद्ध में बदल गया। बिस्मार्क की कूटनीति के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया को किसी भी यूरोपीय देश से सहायता प्राप्त नहीं हो सकी। दोनों के मध्य हुए युद्ध को 'सात सप्ताह का युद्ध' भी कहा जाता है, क्योंकि यह युद्ध केवल सात सप्ताह तक ही चला था। इस समय ऑस्ट्रिया की सैन्य शक्ति काफी कमजोर थी साथ ही उसे प्रशा एवं पीडमौंट-सार्डीनिया के साथ दो विभिन्न मोर्चाओं पर लड़ना पड़ा। दोनों के मध्य 1866 में हुए सेडोवा के युद्ध में ऑस्ट्रिया की घोर पराजय हुई। अंतत: दोनों के मध्य हुए प्राग की संधि के फलस्वरूप जर्मनी के पुराने संघ जो

Copyright – Drishti The Vision Foundation

1815 में वियना व्यवस्था में स्थापित किए गए थे और जिसमें ऑस्ट्रिया का व्यापक प्रभाव था, के स्थान पर प्रशा के नेतृत्त्व में जर्मन राज्यों का एक नवीन संघ गठित किया गया। जर्मनी के सभी उत्तरी राज्य जिसकी संख्या 21 थी; ऑस्ट्रिया से स्वतंत्र हो गए और वेनेशियाई प्रदेश इटली को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उत्तरी जर्मनी राज्य संघ का निर्माण हुआ और प्रशा का सम्राट् इस संघ का अध्यक्ष बना। इस संघ में दक्षिणी जर्मनी के क्षेत्रों को शामिल नहीं किया गया था। ऑस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के संबंध में एक और भी उल्लेखनीय बात यह थी कि बिस्मार्क द्वारा पराजित राष्ट्र के रूप में ऑस्ट्रिया के साथ उदारवादी व्यवहार किया गया क्योंकि बिस्मार्क जानता था कि ऑस्ट्रिया के साथ अधिक कठोर व्यवहार के कारण हो सकता है कि इस विषय पर अन्य यूरोपीय देशों के हस्तक्षेप की संभावना बढ़ जाय। इसके अलावा ये अटकलें भी लगायी जा रहीं थीं कि दक्षिणी जर्मनी क्षेत्र में फ्राँस का व्यापक प्रभाव था, अत: फ्राँस के साथ भी युद्ध अवश्यम्भावी था। इस युद्ध में सफलता के लिए बिस्मार्क को ऑस्ट्रिया की तटस्थता की जरूरत थी, इसलिए बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया के साथ नरमी का बर्ताव किया।

एकीकरण का तृतीय चरण (फ्राँस-प्रशा युद्ध, 1870)

ऑस्ट्रिया-प्रशा युद्ध में ऑस्ट्रिया की पराजय संपूर्ण यूरोप के इतिहास की एक आश्चर्यजनक एवं निर्णायक घटना थी। इस युद्ध में नेपोलियन तृतीय की तटस्थ नीति से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फ्राँस की अंतर्राष्ट्रीय व आंतरिक राजनीति के मामलों में धाक में कमी आ गयी, क्योंकि किसी भी तरीके से फ्राँस को इस तटस्था का लाभ नहीं मिला था। नेपोलियन तृतीय की सर्वत्र आलोचना होने लगी जिसके कारण वह अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को पुनः पाने के लिए हरसंभव तैयार था। एक बार बिस्मार्क ने कहा भी था कि फ्राँस के साथ प्रशा का युद्ध इतिहास की तर्कसंगत परिणति है। राष्ट्रीयता की भावना के उफान में बिस्मार्क जर्मनी के दक्षिणी राज्यों के विलय के अवसर के इंतजार में था। इसके लिए फ्राँस से युद्ध करना ही एक मात्र विकल्प था और इसके लिए बिस्मार्क की नीति, कि पहले फ्राँस को कूटनीतिक दृष्टि से अलग-थलग कर दिया जाय, काफी प्रभावशाली सिद्ध हुई। इस दृष्टिकोण से बिस्मार्क ने रूस, इटली एवं ऑस्ट्रिया के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए। इसी बीच 'स्पेन के राजसिंहासन के प्रश्न' ने दोनों शक्तियों के बीच युद्ध प्रारंभ करने के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान किया। 1868 में स्पेन की जनता द्वारा महारानी इसाबेला के निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर उसे हटा दिया गया और उसके स्थान पर होहेन जोलर्न वंश के राजकुमार लियोपोल्ड को नियुक्त करने की बात तय की गई। लियोपोल्ड प्रशा के राजा का संबंधी था, अत: इस सूचना के मिलते ही नेपोलियन तृतीय ने इस पर कड़ी आपत्ति दर्ज की और स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि फ्राँस भविष्य में भी स्पेन की गद्दी पर होहेन जोलर्न वंश के अधिकार को कभी सहन नहीं करेगा। नेपोलियन तृतीय ने यह माँग भी रखी कि प्रशा का सम्राट यह वचन दे कि भविष्य में स्पेन की गद्दी पर होहेन जोलर्न वंश द्वारा गद्दी का दावा नहीं किया जाएगा। इस संबंध में प्रशा का सम्राट तथा फ्राँस के राजदूत के बीच महत्त्वपूर्ण वार्ता 'एम्स' नामक स्थान पर संपन्न हुई। प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम ने इस वार्ता का संक्षिप्त विवरण एक तार के माध्यम से चांसलर बिस्मार्क को भेज दिया। अवसर का लाभ उठाकर बिस्मार्क द्वारा तार की भाषा को समाचार पत्रों में इस तरीके से प्रस्तुत किया गया कि दोनों देशों की जनता में एक दूसरे के प्रति तीव्र आक्रोश एवं उत्तेजता उत्पन्न हो गई। फ्राँस में यह अफवाह फैली कि वार्ता में प्रशा के सम्राट द्वारा फ्राँस के राजदूत का अपमान किया गया है तथा प्रशा में यह अफवाह फैली कि प्रशा के सम्राट का अपमान किया गया है। यही वह तथ्य है जिस पर दोनों देशों की जनता में उग्र राष्ट्रीयता परवान चढ़ गई और अंतत: दोनों देशों के मध्य युद्ध प्रारंभ हो गया। 1870 में सेडान के युद्ध में नेपोलियन तृतीय के नेतृत्त्व में फ्राँसीसी सेना की घोर पराजय हुई और अंतत: फ्राँस को समर्पण करना पड़ा। तत्पश्चात् 1871 की फ्रेंकफर्ट की संधि के फलस्वरूप युद्ध की समाप्ति हो गई। प्रशा की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी क्योंकि इस संधि के तहत् फ्राँस को प्रसिद्ध प्राकृतिक संसाधन वाले अल्सास-लॉरेन क्षेत्र प्रशा को देने पड़े तथा हर्जाने के रूप में बड़ी धनराशि एक निश्चित समय सीमा में देने की बात भी तय की गई। इस प्रकार जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हुई। जर्मनी में एक संगठित जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई जो राष्ट्रवाद एवं सैन्यवाद का प्रबल समर्थक था। इस क्रम में फ्राँस व जर्मनी के मध्य तनाव के बीज बोए गए, जैसे फ्राँस यह कभी नहीं भूल पाया कि उसका समृद्ध अल्सास-लॉरेन क्षेत्र प्रशा के पास चला गया और वर्साय के राजमहल में प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम को जर्मनी का सम्राट् घोषित किया गया था। जर्मनी के एकीकरण के अंतिम क्षण में इटली के एकीकरण की प्रक्रिया भी संपन्न हुई। फ्राँस-प्रशा युद्ध के क्रम में इटली स्थित पोप के राज्य की सुरक्षा हेतु नियुक्त फ्राँसीसी सेना की वापसी से रोम के विलय का मौका मिल गया और इस रूप में इटली के एकीकरण का कार्य भी पूर्ण हो गया।

बिस्मार्क एवं उसकी नीतियाँ *(Bismarck and His Policies)*

बिस्मार्क का जन्म 1 अप्रैल, 1815 को बेडनबर्ग में हुआ था। 1859 में रूस में राजदूत एवं 1862 में फ्राँसीसी राजदूत के रूप में उन्होंने प्रशा के अंतर्राष्ट्रीय साख में वृद्धि की। सितंबर, 1862 में उसे प्रशा का चांसलर नियुक्त किया गया। इस रूप में उसने जर्मनी के एकीकरण के कार्यों का सफलतापूर्वक निर्वहन किया जिसमें उसकी रक्त और लौह की नीति ने निर्णायक भूमिका निभाई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

बिस्मार्क की गृह नीति *(Domestic Policy of Bismarck)*

बिस्मार्क ने जर्मनी की भावनात्मक एकता के लिए विभिन्न राज्यों में प्रचलित कानूनों को निरस्त कर उसके स्थान पर संपूर्ण जर्मन साम्राज्य के लिए एक सर्वमान्य कानून की व्यवस्था की। आर्थिक एकता तथा विकास के मद्देनजर बिस्मार्क ने संपूर्ण जर्मनी में एक ही प्रकार की मुद्रा व्यवस्था को प्रचलित किया। यातायात की महत्ता को महसूस कर रेलवे बोर्ड का गठन किया गया एवं टेलीग्राफ विभाग को उसी से संबद्ध कर दिया गया। संपूर्ण जर्मन क्षेत्र में बैंकिंग प्रणाली को विकसित करने के लिए वृहत् मात्रा में बैंक खोले गए। इस समय जर्मनी में तीव्र औद्योगीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समाजवादी विचारधारा का प्रसार होने लगा था। इस संबंध में लासले तथा मार्क्स ने जर्मनी की तत्कालीन आर्थिक नीति की निंदा की और यह घोषणा की कि जर्मनी के उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार अनुचित है। समाजवादियों द्वारा यह मांग की गयी की सरकार श्रमिकों को ही संपूर्ण आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार दे। जर्मनी की पार्लियामेंट में समाजवादी दल के सदस्यों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ बढ़ते हुए अन्य प्रभावों के फलस्वरूप सरकार द्वारा औद्योगिक विकास एवं देश हित को ध्यान में रखकर समाजवादियों के प्रति कठोर नीति अपनायी गयी। इस संबंध में कठोर कानून बनाए गए। समाजवादियों को सभा करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, समाजवादी नेताओं को जेल में डाल दिया गया, समाचार पत्रों एवं साहित्य पर रोक लगा दी गई आदि। इन दमनकारी नीति से यद्यपि बिस्मार्क संतुष्ट नहीं था फिर भी मजदूरों को समाजवादियों से अलग करने के लिए उसने राज्य-समाजवाद की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें उसने यह प्रस्तुत किया कि राज्य स्वयं मजदूरों की भलाई हेतु तत्पर है। उसने मजदूरों के हित में विभिन्न प्रकार की बीमा योजनाओं की शुरुआत की। स्त्रियों एवं बालकों के काम के घंटों का निर्धारण व रविवार अवकाश से संबंधित कानून बनाए गए। हालांकि यह अलग बात है कि जर्मनी का राज्य समाजवाद जर्मनी में खास प्रतिष्ठा अर्जित न कर सका परन्तु उसका यह समाजवाद इंग्लैंड एवं फ्रांस के सामाजिक कानूनों के निर्माण हेतु प्रमुख आदर्श बना। अपने औद्योगिक वस्तुओं के हितों को ध्यान में रखकर बिस्मार्क ने जर्मनी के औद्योगिक उत्पादों के संबंध में संरक्षणवादी नीतियों का सहारा लिया ताकि घरेलू बाजार में जर्मनी के औद्योगिक उत्पादों की बिक्री हो सके। इस समय इस बात की भी आवश्यकता महसूस की गई कि औद्योगिक कच्चा माल एवं एक सुनिश्चित बाजार औद्योगिक प्रगति के लिए नितांत आवश्यक है। उस समय जर्मनी इंग्लैंड तथा फ्रांस की तुलना में उपनिवेश के मामलों में निम्न स्तर का देश था, अर्थात् उसका कोई उपनिवेश नहीं था। फिर भी 1884 ई. में बिस्मार्क ने अफ्रीका के पूर्वी और दक्षिणी-पश्चिमी भागों में अनेक व्यापारिक चौकियों पर कब्जा कर लिया और इस रूप में बिस्मार्क ने जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य की नींव रखी जो कालांतर में यूरोपीय राजनीति में तीव्र संघर्ष का कारण बना।

बिस्मार्क की विदेश नीति *(Foreign Policy of Bismarck)*

जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् यूरोप की राजनीति में महान शक्ति के रूप में जर्मनी का उदय हुआ। एकीकरण के पश्चात् जर्मनी के नीति-निर्धारण के संबंध में बिस्मार्क ने यह घोषणा की कि जर्मनी एक संतुष्ट राष्ट्र है और क्षेत्रीय प्रसार में इसकी कोई रुचि नहीं है। फिर भी, अल्सास-लोरन का क्षेत्र जो उसने फ्रांस से छीनकर एक भूल की, उसके लिए फ्रांस से उसे सदैव सावधान रहने की अनिवार्यता थी। चूँकि फ्रांस कभी भी इस दंश को नहीं भूल सकता था, अतः बिस्मार्क की विदेश नीति मूल रूप से फ्राँस को यूरोप में मित्रहीन रखना था जिससे वह अल्सास-लोरेन को प्राप्त करने के लिए जर्मनी से युद्ध करने की स्थिति में न आ सके। इसी बात को केन्द्र में रखकर 1872 में बर्लिन में रूस, ऑस्ट्रिया एवं जर्मनी के सम्राटों के मध्य अनौपचारिक वार्ता हुई जिसमें यह बात सामने आई कि यूरोप में शांति बनाए रखने तथा समाजवादी आंदोलन से निपटने के उद्देश्य में वे सभी एक-दूसरे के साथ सहयोग एवं विचार-विनिमय करेंगे। इसी आधार पर तीन सम्राटों के संघ का निर्माण हुआ, लेकिन यह संघ अस्थायी ही साबित हुआ। यह बात जगजाहिर थी कि जर्मनी या तो रूस के साथ या ऑस्ट्रिया के साथ अर्थात् दोनों में से किसी एक के साथ ही संबंध मजबूत रख सकता था। इसका कारण यह था कि बाल्कन क्षेत्र में रूस एवं ऑस्ट्रिया के हित एक-दूसरे से टकरा रहे थे। स्वाभाविक रूप से ऑस्ट्रिया-रूस की यह टकराहट जर्मनी, रूस और ऑस्ट्रिया के संघ में व्यवधान डालती। अंततः रूस 'तीन सम्राटों के संघ' से अलग हो गया। रूस के अलग हो जाने से बिस्मार्क ने इस बात को महसूस किया कि यूरोप में जर्मनी का एक अच्छा मित्र होना आवश्यक है, इसी आवश्यकता के तहत 1879 में ऑस्ट्रिया-जर्मनी के मध्य द्विगुट संधि (Dual Alliance) हुई जो वस्तुतः एक रक्षात्मक संधि थी। इस संधि के तहत यह बात तय की गई कि यदि ऑस्ट्रिया एवं रूस के मध्य युद्ध हो और उस युद्ध में रूस की सहायता फ्राँस करे तो उस स्थिति में जर्मनी ऑस्ट्रिया का साथ देगा और यदि फ्राँस जर्मनी पर आक्रमण करे और रूस उसकी सहायता करे तो ऑस्ट्रिया जर्मनी का साथ देगा। दूसरे शब्दों में यदि रूस ऑस्ट्रिया पर अकेले आक्रमण करता तो उस स्थिति में जर्मनी तटस्थ रहता और इसी तरह यदि फ्राँस जर्मनी पर आक्रमण करता तो ऑस्ट्रिया तटस्थ रहता। इसके अलावा बिस्मार्क इटली से मित्रता कर फ्राँस को यूरोपीय राजनीति में एकदम अकेला कर देना चाहता था। फ्राँस एवं इटली के मध्य ट्यूनिस के मुद्दे पर काफी तनाव हो गया था, ऐसी स्थिति में 1882 में इटली-जर्मनी-ऑस्ट्रिया के बीच 'त्रिगुट संधि' (Tripple Alliance) नामक प्रसिद्ध संधि हुई। तत्कालीन यूरोपीय राजनीति में इस संधि का विशेष महत्त्व है क्योंकि इस संधि के अनुसार यह तय किया गया था कि यदि फ्राँस इटली पर आक्रमण करता है तो उस स्थिति में जर्मनी एवं ऑस्ट्रिया इटली की सहायता करेंगे। यदि फ्राँस जर्मनी पर आक्रमण करे तो इटली द्वारा जर्मनी को सहायता दी जाती और

Copyright – Drishti The Vision Foundation

यदि अन्य दो देश जैसे फ्रांस एवं रूस त्रिगुट के किसी भी देश पर आक्रमण करें तो उस स्थिति में त्रिगुट के तीनों देश मिलकर उसका सामना करेंगे। यह संधि वैसे तो सिर्फ 5 वर्षों के लिए की गयी परन्तु समय-समय पर हुए नवीनीकरण के पश्चात् यह त्रिगुट संघ 1915 तक कायम रही। यह एक गुप्त संधि थी, जिसने यूरोपीय राजनीति में विभिन्न देशों के मध्य आपसी हितों के रक्षा हेतु गुटबंधी करने को बाध्य किया तथा विभिन्न यूरोपीय देशों में अविश्वास, घृणा, नफरत आदि को पर्याप्त बढ़ावा दिया जिससे विभिन्न देशों में व्यापक तनाव बढ़ा और यही तनाव प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि के रूप में सामने आया।

बिस्मार्क की एक और कूटनीतिक चाल थी- रूस के साथ मित्रता की संधि। बिस्मार्क किसी भी हालत में रूस की दोस्ती नहीं खोना चाहता था। इसी का परिणाम था कि रूस के जार को विश्वास में लेकर बिस्मार्क ने 1887 में रूस के साथ पुनराश्वासन संधि (Reassurance Treaty) नामक पूर्णतः गुप्त संधि की जिसके अनुसार रूस एवं जर्मनी के बीच यह तय हुआ कि दोनों देशों में से कोई भी देश किसी तीसरे देश के साथ उलझता है तो दूसरा देश तटस्थ रहेगा। जर्मनी की ओर से भी यह वादा किया गया कि वह बाल्कन क्षेत्र में रूस के हितों का विरोध नहीं करेगा। इस प्रकार बिस्मार्क ने रूस और ऑस्ट्रिया दोनों यूरोपीय शक्ति के साथ मित्रतापूर्ण संबंध कायम करने की कोशिश की।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

22/2/17

इकाई-7

प्रथम विश्वयुद्ध (First World War)

(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के विषय संख्या 5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)

प्रथम विश्वयुद्ध विश्व इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह एक ऐसी घटना थी जब एक यूरोपीय युद्ध विश्वयुद्ध में परिवर्तित हो गई। इस युद्ध की पृष्ठभूमि में अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति, साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता, शस्त्रों की होड़, उग्र राष्ट्रवाद, ऑस्ट्रिया के राजकुमार फर्डीनेंड की सेराजेवो में हत्या आदि तत्त्व थे। इस युद्ध में जितनी अधिक धन-जन की बर्बादी हुई उतनी मानव इतिहास में इससे पूर्व नहीं हुई थी। इससे पूर्व की लड़ाइयों में गैर-सैनिक जनता साधारणतया शामिल नहीं होती थी तथा जान की हानि आमतौर पर युद्धरत् सेनाओं को उठानी पड़ती थी। 1914 के इस विश्वयुद्ध का क्षेत्र सर्वव्यापी था एवं इस युद्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तौर पर विश्व के लगभग सभी देश सम्मिलित हुए। इस युद्ध में यूरोप, एशिया, अफ्रीका तथा प्रशांत क्षेत्र में लड़ाईयाँ लड़ी गई थीं। इसके अभूतपूर्व विस्तार एवं सर्वांगीण प्रकृति के कारण ही इसे प्रथम विश्वयुद्ध कहा गया। यह विश्वयुद्ध 28 जुलाई, 1914 से 11 नवंबर, 1918 तक चला था।

प्रथम विश्वयुद्ध के कारण (Causes of First World War)

(i) **यूरोपीय कूटनीतिक व्यवस्था:** 1871 ई. में जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् बिस्मार्क द्वारा यह घोषणा की गई थी कि जर्मनी एक संतुष्ट राष्ट्र है एवं वह क्षेत्रीय विस्तार के संबंध में कोई इच्छा नहीं रखता है। इसके बावजूद उसने फ्राँस से अल्सास लॉरेन का क्षेत्र लेकर उसे आहत कर दिया और यह वही बिन्दु है जिस पर जर्मनी को हमेशा यह भय बना रहता था कि फ्राँस यूरोप में दूसरे देशों के साथ मित्रता स्थापित कर जर्मनी के खिलाफ बदले की कार्रवाई न कर दे। इसी कारण बिस्मार्क अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फ्राँस को अलग-थलग अथवा एकाकी रखने के लिए कूटनीतिक जाल बुनने लगा। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने 1879 ई. में ऑस्ट्रिया के साथ द्वैध संधि की जो एक गुप्त संधि थी। 1882 में इटली ने द्वैध संधि में शामिल होकर इसे त्रिवर्गीय संधि का रूप प्रदान किया। बिस्मार्क की यह कोशिश भी रही कि रूस के साथ सम्यक् संबंध कायम हो, इसलिए 1871, 1881 तथा 1887 में उसने रूस के साथ संधि कर उसे अपने पक्ष में मिलाए रखा। इस प्रकार बिस्मार्क की यह हरसंभव कोशिश रही कि **फ्राँस को मित्रहीन बनाए रखा जाय और वह इसमें सफल भी रहा परन्तु 1890 में बिस्मार्क के चांसलर पद से हटने के** बाद जर्मन सम्राट उसके इस विरासत को संभाल पाने में सफल नहीं रहे। 1894 में फ्राँस ने अंततः रूस से मित्रता कर ली। 1907 में इंग्लैंड, फ्राँस तथा रूस ने आपस में समझौता कर इसे त्रिवर्गीय मैत्री संघ का रूप दिया। इस प्रकार यूरोपीय देशों में जबर्दस्त गुटबाजी का दौर चल पड़ा। सभी साम्राज्यवादी देशों ने अपने-अपने हितों को साधने के लिए गुटबाजी को प्रश्रय दिया एवं आपस में गुप्त संधियाँ कीं। इन विभिन्न यूरोपीय देशों के इन कृत्यों से यूरोप में शंका का वातावरण व्याप्त हो गया। इस प्रकार इन दोनों गुटों में प्रतिद्वंद्विता एवं तनाव बढ़ता गया तथा प्रथम विश्वयुद्ध में दोनों गुट एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ने में संलग्न हो गए।

(ii) **साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता:** यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता प्रथम विश्वयुद्ध का एक-दूसरा मौलिक कारण स्वीकार किया जाता है। 19वीं शताब्दी के अंत में यूरोप के लिए यह एक बड़ी समस्या बनकर सामने आयी। 1870 के दशक में नवीन साम्राज्यवाद का युग प्रारंभ हुआ। जर्मनी एवं इटली के एकीकरण के पूर्व ही विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा विभिन्न एशियाई तथा अफ्रीकी क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित किया जा चुका था। एकीकरण के पश्चात् जर्मनी एवं इटली जैसे देश एक महान शक्ति के रूप में उभरे एवं इन्हें उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ी। वस्तुतः जब तक बिस्मार्क जर्मनी का चांसलर रहा तब तक तो वह साम्राज्यवादी युद्धों पर अंकुश लगाए रखा। परन्तु, उसके पश्चात् जर्मन सम्राट् द्वारा यह प्रसिद्ध घोषणा की गई कि "जर्मनी को भी सूर्य के नीचे जगह चाहिए।" अर्थात् इसका अभिप्राय था- उपनिवेशों की प्राप्ति तथा इसकी प्राप्ति हेतु साम्राज्यवादी नीति को अपनाना।

पहले से स्थापित साम्राज्यवादी देशों के गुट में तीन नए देशों जर्मनी, इटली एवं जापान के शामिल हो जाने से स्वाभाविक रूप से साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता में तीव्रता आई। इससे साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य अफ्रीका का बँटवारा, चीन को प्रभाव क्षेत्रों में बाँटना एवं प्रशांत महासागरीय क्षेत्र के अनेकानेक द्वीपों पर अधिकार स्थापित करने की लालसा से घोर प्रतिस्पर्धा का दौर शुरू हो गया। प्रारंभ में यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों द्वारा अफ्रीका को शांतिपूर्ण ढंग से आपस में बाँट लेने की योजना बनाई गई एवं इसके लिए 1884 में बर्लिन सम्मेलन में कुछ निदेशक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किए गए, परन्तु यह मापदंड लंबे समय तक नहीं चल सका। अफ्रीका के बँटवारे के सिलसिले में यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के मध्य घोर संघर्ष व आपसी टकराहट की स्थिति बनी।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

चीन तथा प्रशांत महासागरीय द्वीप नव साम्राज्यवाद का दूसरा प्रमुख क्षेत्र था। यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों ने चीन की कमजोरी का लाभ उठाकर उसको विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बाँट लिया एवं अनेक विशेष सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। इस स्थिति में चीन की स्वतंत्र स्थिति लगभग समाप्त हो गई।

1894-95 में चीन एवं जापान के युद्ध के परिणामस्वरूप जापान द्वारा चीन के कुछ भू-भाग जीत लिए गए। जापानी प्रसार की इस नीति से रूस के साथ उसका टकराव अवश्यंभावी हो गया। 1904-05 का रूस-जापान युद्ध इस टकराहट का ही प्रतिफल था जिसमें जापान ने रूस को पराजित कर अपनी साम्राज्यवादी उद्देश्य की नींव मजबूत कर ली। रूस-जापान के इस युद्ध ने यूरोपीय राजनीति को भी प्रभावित किया एवं यूरोप का वातावरण तनावपूर्ण हो गया।

बाल्कन प्रायद्वीप साम्राज्यवाद का तीसरा एवं सबसे भयंकर क्षेत्र था। इस क्षेत्र में तुर्की, रूस एवं ऑस्ट्रिया के हित टकराते थे। चूँकि संपूर्ण बाल्कन क्षेत्र विशाल तुर्की साम्राज्य का ही विस्तार था एवं रूस तथा ऑस्ट्रिया दोनों ही इस क्षेत्र से तुर्की आधिपत्य को समाप्त कर अपन-अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। अतः इस क्षेत्र में ऑस्ट्रिया एवं रूस एक-दूसरे के प्रबल विरोधी के रूप में सामने आए। वस्तुतः रूस एवं ऑस्ट्रिया के मध्य हितों की यही टकराहट प्रथम विश्वयुद्ध का प्रमुख कारण बना।

(iii) **उग्र राष्ट्रवाद:** जब विभिन्न यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के मध्य विभिन्न मुद्दों पर टकराहट की स्थिति व्याप्त थी, उसी समय विभिन्न देशों में उग्र राष्ट्रवाद की विचारधारा चरमोत्कर्ष पर पहुँची। फ्राँसीसी क्रांति के फलस्वरूप राष्ट्रवाद की जो भावना जागृत हुई थी, उसने प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व संध्या पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच आपसी टकराहट के लिए उत्प्रेरक का काम किया। वस्तुतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीय चेतना जर्मनी एवं इटली के एकीकरण के संबंध में सकारात्मक पक्ष को दर्शाता है परन्तु 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यह राष्ट्रवाद अपने विरोधी रूप में उभरकर सामने आया। प्रत्येक राष्ट्र एक-दूसरे से स्वयं को सर्वोच्च रूप में दिखाने का प्रयास करता था। जर्मन राष्ट्रवादी फ्रांस के विरुद्ध थे तथा फ्रांस के राष्ट्रवादी भी जर्मनी का नामोनिशान मिटाने हेतु कृतसंकल्प थे। ध्यातव्य है कि जर्मनी के एकीकरण के क्रम में बिस्मार्क ने फ्रांस की पराजय से उत्पन्न परिस्थिति का लाभ उठाकर उसके अल्सास-लारेन जैसे समृद्ध क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। इस राष्ट्रीय अपमान को फ्रांस कभी भी नहीं भूल पाया और वह 1871 की अपमानजनक पराजय का बदला और अल्सास-लारेन क्षेत्र को पुनः प्राप्त करने हेतु व्यग्र था। ये तो रहा फ्रांस-जर्मनी के तत्कालीन कड़वाहट वाले संबंधों की बात। अब अगर हम ऑस्ट्रिया व रूस के संबंधों का विश्लेषण तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में करें तो हम पाएंगे कि बाल्कन क्षेत्र के जटिल मुद्दे एवं आपसी हित को लेकर ऑस्ट्रिया एवं रूस में गंभीर तनातनी थी। राष्ट्रीयता की चरम परिणति बाल्कन क्षेत्र में भी कुत्सित रूप में सामने आई। एक व्यवस्था के तहत बोस्निया एवं हर्जेगोविना जैसे सर्वजाति बहुल क्षेत्र ऑस्ट्रिया को दे दिया गया जबकि सर्बिया के दावे को अस्वीकार कर दिया गया। एक और पक्ष जो चुभने वाली थी वह यह कि सर्बिया के लोग स्लाव वंश के थे और रूस अखिल स्लाववाद की दुहाई देकर पूर्वी यूरोप की राजनीति में प्रभाव स्थापित करना चाहता था। राष्ट्रवाद का सबसे विकृत रूप यह था कि कुछ जातियों ने स्वयं को सर्वश्रेष्ठ जाति का होने का दावा प्रस्तुत किया। वे अन्य जातियों पर शासन स्थापित करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझने लगीं। राष्ट्रवाद की इस आंधी में बाल्कन क्षेत्र सहित पूर्वी यूरोप की कुछ अन्य जातियाँ जैसे बुल्गर, चेक, पोल, सर्व, स्लाव आदि अपने स्वतंत्र राष्ट्र की इच्छा को प्रबलता से प्राप्त करने के लिए उत्तेजित हुईं।

(iv) **सैन्यवाद:** प्रत्यक्ष रूप से सैन्यवाद विभिन्न यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के मध्य होने वाली गुप्त संधियों से जुड़ा हुआ था। इन विभिन्न देशों के मध्य होने वाली गुप्त संधियों ने एक-दूसरे के प्रति शंका एवं अविश्वास की खाई उत्पन्न कर दी और यही वह तत्त्व था जिसके कारण एक-दूसरे देशों के साथ युद्ध की आशंका बढ़ी। औपनिवेशिक विस्तार तथा उपनिवेशों की रक्षा के लिए सैन्यवाद को प्रश्रय देना विभिन्न साम्राज्यवादी देशों की महती आवश्यकता एवं मजबूरी भी थी।

फ्राँसीसी क्रांति (1789) के परिणामस्वरूप सैन्यवाद का जन्म हुआ तथा जर्मनी-इटली के एकीकरण तक सैन्यवाद अपने विकसित स्तर को प्राप्त कर चुका था। सैनिक शक्ति की आवश्यकता को देखते हुए विभिन्न देशों में सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई। सैन्य शक्ति में वृद्धि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का पर्याय बन गया। यूरोपीय देशों के बीच अस्त्र-शस्त्र एवं सैनिकों की संख्या बढ़ाने की होड़ ने गंभीर सैन्य वातावरण का रूप ले लिया। यह समय एक तरीके से अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का समय था और इस समय ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ जिससे ऐसा लग रहा था कि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सिर्फ सैनिक शक्तियों के बल पर ही संभव है। सैन्य अधिकारियों का प्रभाव व्यापक रूप से देश की राजनीति पर था। नीति निर्माण एवं निर्णय-कार्यों में उनकी भूमिका बढ़-चढ़कर होती थी। ऐसी स्थिति में जब यूरोप में संकट उत्पन्न होता तो इन सैन्य अधिकारियों द्वारा असैन्य अधिकारियों पर इस बात का दबाव देकर युद्ध शुरू करने की स्वीकृति ले ली जाती कि थी सामरिक स्थिति नियंत्रण में रहेगी।

(v) **समाचारपत्रों की भूमिका:** विभिन्न यूरोपीय देशों के मध्य प्रकाशित होने वाले समाचारपत्रों ने विभिन्न देशों के बारे में दुष्प्रचार कर युद्ध के वातावरण को विषाक्त कर दिया। राष्ट्रीय उन्माद एवं उत्तेजना बढ़ाने में ये विभिन्न समाचारपत्र प्रमुख भूमिका निभा रहे थे। यद्यपि 18वीं एवं 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में जनमत का महत्त्व नगण्य ही था, परन्तु 1830 एवं 1848 की फ्राँसीसी क्रांति एवं उसके परिणामस्वरूप यूरोप में आई राजनीतिक चेतना और इटली एवं जर्मनी के एकीकरण में समाचारपत्रों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। अब किसी राजनीतिक घटना का प्रभाव उस देश के न सिर्फ शासन एवं प्रशासन से संबद्ध लोगों पर पड़ता था वरन् वहाँ की जनता भी उस घटना से अपने को संबद्ध कर लेती थी एवं उस पर अपनी प्रतिक्रिया देती थी। वस्तुतः

Copyright – Drishti The Vision Foundation

1871 के बाद फ्रांस का जनमत जर्मनी के विरुद्ध तथा बोस्निया, हर्जेगोविना एवं सर्बिया की जनता ऑस्ट्रिया के विरुद्ध जबकि रूस की जनता स्लाव जाति के होने के कारण बाल्कन देशों के साथ थी। 1890 के बाद जब जर्मनी ने साम्राज्यवादी नीति को अपनाया तब ब्रिटेन की जनता जर्मनी को अपना शत्रु समझने लगी, क्योंकि जर्मनी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मार्ग में रोड़ा अटकाने लगा था और इस घटना में समाचारों ने जनमत को उत्तेजित किया। इस तरह समाचारपत्रों ने विभिन्न देशों में दूसरे देश के विरुद्ध जनमत तैयार किया।

(vi) **अंतर्राष्ट्रीय अराजकतापूर्ण स्थिति:** बिस्मार्क द्वारा जिस कूटनीतिक जाल को बुनने की परंपरा शुरू की गई थी वह बिल्कुल गुप्त संधियों पर आधारित थी, जिसके परिणामस्वरूप समस्त यूरोप में शंका तथा भय का वातावरण व्याप्त हो गया। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी भी यूरोपीय देशों की संधि की शर्तों की अवहेलना करने में थोड़ी-सी भी हिचक नहीं होती थी। 1878 में हुए बर्लिन कांग्रेस के पश्चात् रूस जर्मनी से सख्त नफरत करता था। परन्तु, इसके बावजूद भी रूस जर्मनी से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने का वादा करता रहा। इसी तरह एक तरफ जर्मनी ऑस्ट्रिया के हितों की रक्षा की बात करता रहा एवं रूस से भी 1890 तक मित्रता बनाने की बात पर दृढ़-संकल्प रहा। वस्तुतः सैद्धांतिक तौर पर ब्रिटेन फ्राँस से मित्रता की बात नहीं करता था लेकिन अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए जर्मनी के विरुद्ध मित्र की खोज कर रहा था। इटली जर्मनी एवं ऑस्ट्रिया के साथ रहते हुए भी अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु दूसरे गुट के संपर्क में था जिसका खुलासा युद्ध प्रारंभ होने के बाद तब सामने आया जब वह त्रिवर्गीय मैत्री संघ में शामिल हो गया। इन सभी तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व यूरोपीय देशों में अराजकता फैली हुई थी जिसमें संधि की शर्तों की अवहेलना तथा मैत्रीपूर्ण संबंध के बावजूद शत्रुवत् षड्यंत्र करना सामान्य बात हो गई थी।

(vii) **बाल्कन क्षेत्र की जटिलता:** बाल्कन क्षेत्र के अन्तर्गत रूस और ऑस्ट्रिया को अन्तर्गत एवं विभिन्न जातियों के बीच विकसित हुई उग्र राष्ट्रवाद से उत्पन्न समस्याओं ने समस्त बाल्कन क्षेत्र के वातावरण को विषाक्त कर दिया था। बाल्कन क्षेत्र की जटिल समस्या ने त्रिवर्गीय संधि एवं त्रिवर्गीय मैत्री संघ के सदस्यों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। वास्तव में एक ओर रूस यदि धर्म एवं जाति के नाम पर स्वयं को स्लाव जाति का संरक्षक समझता था और अखिल स्लाव आंदोलन को बढ़ावा दे रहा था, तो दूसरी ओर ऑस्ट्रिया हर हाल में सर्व आंदोलन को दबाकर इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। यद्यपि ये बात इतनी विषाक्त नहीं होती यदि सर्बिया को रूस से सहायता की गारंटी नहीं मिली होती एवं रूस को पीठ पर फ्राँस तथा ब्रिटेन का समर्थन की बात नहीं होती। इसी तरह ऑस्ट्रिया भी यदि अकेला होता तो बाल्कन क्षेत्र में युद्ध लड़ने का साहस नहीं करता, परन्तु उसे भी जर्मनी एवं इटली का समर्थन था। इसलिए यह कहना बिल्कुल सच है कि प्रथम विश्वयुद्ध दो घोड़ों (सर्बिया एवं ऑस्ट्रिया) का युद्ध था, घुड़सवार बाद में इस युद्ध में शामिल हुए।

(viii) **तात्कालिक कारण (सेराजेवो हत्याकांड):** बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में ऑस्ट्रियाई राजकुमार फर्डीनेण्ड की हुई हत्या ने बारूद की ढेर पर बैठे यूरोप को चिंगारी लगा दी और स्थिति विस्फोटक हो गई। ध्यातव्य है कि ऑस्ट्रिया ने 1908 में बोस्निया एवं हर्जेगोविना नामक दो सर्व बहुल प्रांतों पर अधिकार कर लिया था। फलतः राष्ट्रवादी भावना से ओत-प्रोत सर्बिया इन सर्व बहुल क्षेत्र को ऑस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ाना चाहता था। इन क्षेत्रों में ऑस्ट्रियाई शासन के खिलाफ बोस्निया-हर्जेगोविना प्रान्तों में आतंकवादी आंदोलन का एक लंबा सिलसिला शुरू हुआ। सर्बिया के निर्देश पर कुछ सर्व आतंकवादियों द्वारा-ऑस्ट्रिया के युवराज फर्डीनेण्ड की हत्या कर दी गई। ऑस्ट्रियाई सरकार इसके लिए सर्बिया को दोषी मानती थी एवं इस हत्या के लिए सर्बिया को जवाब-तलब किया। सर्बिया के तरफ से जब संतोषजनक जवाब नहीं मिला तो ऑस्ट्रिया ने 28 जुलाई, 1914 को सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस तुरंत सर्बिया की मदद के लिए युद्ध में शामिल हो गया। फिर, जर्मनी एवं फ्राँस भी अपने-अपने मित्र राज्यों का पक्ष लेते हुए युद्ध में शामिल हो गए। साथ ही, जब जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण किया तो अपने ऊपर खतरा देखकर ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस तरह पहली बार विश्वयुद्ध का श्रीगणेश हुआ, जिसमें विश्व के प्रायः सभी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शामिल हुए।

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व ऑस्ट्रिया-रूस संबंध एवं बाल्कन क्षेत्र
(Austria-Russia relation before first world war and Balkan region)

19वीं सदी के 5वें दशक तक ऑस्ट्रिया-रूस संबंध काफी सौहार्द्रपूर्ण थे। इस अवधि में दोनों शक्तियों ने आपसी सहयोग से नेपोलियन को पराजित किया एवं 1815 के वियना कांग्रेस के पश्चात् 1848 तक अर्थात् मेटरनिख युग तक दोनों देशों के बीच घनिष्ठ संबंध था। परन्तु, क्रीमिया युद्ध (1853-56) के क्रम में दोनों देशों के प्रगाढ़ संबंध को जबर्दस्त धक्का लगा। युद्ध में ऑस्ट्रिया ने खुलेआम रूस विरोधी दृष्टिकोण अपनाया था। ऑस्ट्रिया की इस कृतघ्नता को रूस कभी नहीं भूल पाया और जब 1866 ई. में ऑस्ट्रिया-प्रशा युद्ध हुआ तो रूस ने स्पष्टतः ऑस्ट्रिया विरोधी रूख अपनाया।

इटली एवं जर्मनी के एकीकरण के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया के प्रभाव में कमी आई। ऑस्ट्रिया मूलतः एक साम्राज्यवादी देश था, अतः इटली एवं जर्मनी में समाप्त हुए उसके प्रभाव की भरपाई का कोई विकल्प आवश्यक था। दूसरे शब्दों में, ऑस्ट्रिया के लिए अब एकमात्र क्षेत्र बाल्कन प्रायद्वीप ही था जहाँ उसकी साम्राज्यवादी लिप्सा पूरी हो सकती थी। अतः 1870 के पश्चात् ऑस्ट्रियाई विदेश नीति मूल

Copyright – Drishti-The Vision Foundation

रूप से बाल्कन प्रायद्वीप की ओर बढ़ने पर केन्द्रित हो गई। उधर रूस भी इस क्षेत्र में अपने विस्तार की योजना बनाये हुए था। बाल्कन क्षेत्र में विभिन्न जातियाँ जैसे बुल्गार, पोल, चेक, सर्व, यूनानी आदि निवास करती थीं। इन सभी जातियों में राष्ट्रवाद की प्रबल भावना विकसित हुई और ये ऑटोमन साम्राज्य के अधीन न रहकर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करना चाहते थे। कुल मिलाकर इस क्षेत्र में ऑटोमन साम्राज्य की कमजोर पकड़ के कारण अशांति की स्थिति थी। ऑटोमन साम्राज्य की कमजोरी का लाभ उठाकर रूस इस क्षेत्र में बढ़ने का प्रयास कर रहा था तथा उसका एकमात्र उद्देश्य बाल्कन क्षेत्र को पूर्णरूपेण रूसी प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर देना था। बाल्कन क्षेत्र के प्राय: सभी लोग स्लाव प्रजाति एवं ग्रीक चर्च के अनुयायी थे तथा रूसी-लोग भी स्लाव एवं ग्रीक चर्च के ही अनुयायी थे। अर्थात् रूस एवं बाल्कन क्षेत्र के निवासियों के बीच गहरा प्रजातीय एवं धार्मिक संबंध था। यही धर्म एवं प्रजाति नामक तत्त्व था जिसकी आड़ में रूस उन सभी परिस्थितियों को खड़ा कर रहा था जो उसकी विस्तारवादी नीति के मार्ग में सहायक होता। बाल्कन क्षेत्र की इस स्थिति ने ऑस्ट्रिया-रूस के हितों में प्रत्यक्ष टकराहट को बढ़ावा दिया।

बाल्कन क्षेत्र में अपना हित साधने हेतु रूस के निर्देशन पर एक सर्व स्लाव आंदोलन चला, जिसका उद्देश्य बाल्कन के सभी स्लावों को एकता के सूत्र में आबद्ध करके तुर्कों की दासता से मुक्त करना था। इस सर्व स्लाव आंदोलन ने शीघ्र ही तूल पकड़ लिया तथा बाल्कन क्षेत्र के निवासी ऑटोमन शासन के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। इस विद्रोह को दबाने के लिए तुर्की सत्ता (ऑटोमन शासक) ने एड़ी-चोटी एक कर दी। फलत: रूस एवं तुर्की के मध्य संघर्ष हुआ जिसमें रूस विजयी रहा और दोनों के बीच 'सन स्टीफानो की संधि' हुई। इस संधि से बाल्कन क्षेत्र में तुर्की साम्राज्य लगभग समाप्त हो गया एवं रूस का व्यापक प्रभाव बढ़ा। यह स्थिति ऑस्ट्रिया एवं ब्रिटेन के लिए असहनीय था। अत: इन दोनों ने सन स्टीफानो की संधि का विरोध किया। घटनाक्रम ने विभिन्न मोड़ लिए और अंतत: बर्लिन सम्मेलन का आधार तैयार हुआ। इस सम्मेलन में बाल्कन क्षेत्र से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण बातें सामने आईं।

इसमें एक महत्त्वपूर्ण निर्णयों के तहत बोस्निया एवं हर्जेगोविना नामक सर्व बहुल प्रांत को अधिकृत करने एवं उनपर शासन करने का अधिकार ऑस्ट्रिया को मिला जबकि सर्बिया स्वयं को सर्व जाति का पैतृक प्रतिनिधित्व मानता था और इन सर्व बहुल दोनों प्रांतों को अपने अधीन होने का इच्छा रखता था। परन्तु इस सम्मेलन में सर्बिया की माँग को ठुकरा दिया गया। इस व्यवस्था ने भविष्य में रूस एवं ऑस्ट्रिया के टकराव को अवश्यंभावी बना दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या पर बाल्कन क्षेत्र की जटिल समस्या ने गंभीर रूप ले लिया। किसी भी हालत में सर्बिया बर्लिन व्यवस्था को स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं था और सर्वस्लाववाद के रूसी कर्णधार इस बात को ठीक से समझते थे कि स्लाव एवं ट्यूटोनिक जातियों के बीच संघर्ष अवश्यभावी है और रूस को इसके लिए तैयार रहना है। इस परिस्थिति में सर्बिया ने यह निश्चित कर लिया कि किसी भी कीमत पर उसे अपने स्वजातियों को मुक्त कराना है। इसके लिए सर्बिया ने रूस के संरक्षण में रहते हुए पराधीन स्लावों को संगठित करना शुरू किया ताकि उनमें विद्रोह की भावना फैलाकर उन्हें ऑस्ट्रिया से मुक्त किया जा सके। ऐसी स्थिति में अक्टूबर, 1908 में **ऑस्ट्रिया द्वारा बोस्निया एवं हर्जेगोविना नामक प्रांतों को अधिकृत कर लिया गया। फलत: स्थिति गंभीर** होती गई। इस हालत में रूस एवं सर्बिया का प्रोत्साहन पाकर सर्व देशभक्तों ने उग्र एवं आतंकवादी उपायों का सहारा लिया तथा गुप्त संगठनों के माध्यम से ऑस्ट्रियाई पदाधिकारियों की हत्या की जाने लगी। इन कार्रवाइयों से आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया। इसी तनाव के वातावरण में बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में ऑस्ट्रियाई राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या कर दी गई, जिसमें इन्हीं सर्व आतंकवादियों की भूमिका थी। फलत: ऑस्ट्रिया के लिए स्थिति बर्दाश्त से बाहर की चीज़ हो गई और अंतत: उसने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह युद्ध तो महज ऑस्ट्रिया एवं सर्बिया के मध्य था परन्तु इससे यूरोप की तत्कालीन सभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ भिन्न रूप से जुड़ी हुई थी जैसे- सर्बिया के साथ रूस तथा रूस के साथ ब्रिटेन एवं फ्रांस और इसी तरह ऑस्ट्रिया से जर्मनी एवं तुर्की आदि। फलत: इस नेटवर्क से जितने भी देश जुड़े हुए थे सब एक-दूसरे गुटों के विरुद्ध युद्ध के जाल में फँस गए और इस तरह प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गई।

प्रथम विश्वयुद्ध की प्रमुख घटना: रूस का युद्ध से अलग होना एवं अमेरिका का युद्ध में प्रवेश
(Important Incident of first world war: Separation of Russia and Entry of America in the war)

प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में 1917 में दो प्रमुख घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं- पहली, रूस में सफल बोल्शेविक क्रांति के फलस्वरूप रूस का विश्वयुद्ध से अलग हो जाना जबकि दूसरी घटना-थी- अमेरिका का युद्ध में सम्मिलित होना।

1917 की क्रांति के फलस्वरूप रूस में स्थापित बोल्शेविक सत्ता ने सर्वप्रथम विश्वयुद्ध से अलग होने की घोषणा की। यद्यपि इस निर्णय की मित्रराष्ट्रों की ओर से तीखी निंदा की गई, परन्तु देशहित में बोल्शेविक सरकार का यह निर्णय आवश्यक था। रूस की नई सरकार ने जर्मनी से समझौता कर 'ब्रेस्ट लिटोवस्क' की संधि की। इस संधि के अनुसार रूस ने अपने सारे पश्चिमी प्रांत जर्मनी को दे दिए। इससे जर्मनी की स्थिति अत्यंत सुदृढ़ हो गई। जर्मनी ने अपनी सेनाएँ पश्चिमी मोर्चे पर भेज दी फलत: मित्र राष्ट्रों की स्थिति संकटपूर्ण हो गई। परन्तु, अमेरिका के युद्ध में प्रवेश करने से मित्र राष्ट्रों की स्थिति मजबूत हुई। इन्हें अमेरिका से धन एवं जन दोनों की प्राप्ति हुई। हालाँकि इस युद्ध में अमेरिका शुरू में शामिल नहीं था लेकिन जब जर्मनी द्वारा अमेरिका का यात्री जहाज 'लुसीटानिया' को डूबो दिया गया तो अमेरिका को बाध्य होकर जर्मनी वाले गुट के विरुद्ध युद्ध में कूदना पड़ा।

पश्चिमी मोर्चे पर स्थापित जर्मनी की प्रसिद्ध 'हिंडेनबर्ग पंक्ति' मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध विशेष कारगर साबित नहीं हुई। जर्मनी के सभी

Copyright – Drishti The Vision Foundation

मित्र देश एक-एक कर युद्ध में पिछड़ते जा रहे थे। बाल्कन क्षेत्र के बुल्गारिया, तुर्की एवं ऑस्ट्रिया-हंगरी द्वारा आत्म-समर्पण कर दिए जाने के पश्चात् जर्मन नेतृत्वकर्त्ता कैसर विलियम ने स्थिति पर नियंत्रण की व्यापक कोशिश की लेकिन बिगड़ती हुई जर्मनी की स्थिति के कारण बिलियम ने सत्ता छोड़ दिया। अंततः जर्मनी ने घुटने टेक दिए तथा प्रथम विश्वयुद्ध का अंत हो गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के परिणाम *(Consequences of first world war)*

(i) **साम्राज्य विघटन:** प्रथम विश्वयुद्ध का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि इसने जर्मनी, ऑस्ट्रिया तथा तुर्की साम्राज्यों को छिन्न-भिन्न कर दिया। फलतः यूरोप में अनेक नए देश अस्तित्व में आए, जैसें- यूगोस्लाविया, हंगरी, रोमानिया आदि।

(ii) **निरंकुश शासकों का अंत एवं गणराज्यों की स्थापना:** युद्ध के दौरान ही रूस में साम्यवादी क्रांति हुई जिसके कारण वहाँ जारशाही का अंत हो गया और रोमोनोव राजवंश समाप्त हो गया, साथ ही युद्ध के पश्चात् जर्मनी में होहेनजोलर्न और ऑस्ट्रिया-हंगरी में हैप्सबर्ग राजवंश का अंत हो गया। युद्ध के सात वर्ष पश्चात् तुर्की के निरंकुश शासन का भी अंत हो गया। अतः हम प्रथम विश्वयुद्ध को एक क्रांति के रूप में देख सकते हैं, जिसने विभिन्न निरंकुश राजवंशों का अंत कर दिया। युद्ध के पश्चात् यूरोप के विभिन्न देशों में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली अस्तित्व में आई जैसे- रूस, जर्मनी, पोलैण्ड, ऑस्ट्रिया, लिथुआनिया, लाटविया, चेकोस्लोवाकिया, फिनलैंड आदि।

(iii) **रूसी क्रांति:** प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में ही रूस में सफल बोल्शेविक क्रांति हुई एवं वहाँ साम्यवादी सरकार सत्ता में आई। यह क्रांति साम्राज्यवाद का जबर्दस्त विरोधी था। वास्तव में यह सरकार परतंत्र जातियों को वैचारिक स्तर पर मदद की पक्षधर थी। स्वाभाविक रूप से पूँजीवादी देश इसके विरोधी के रूप में सामने आए। परन्तु सभी परतंत्र जातियाँ अपनी स्वाधीनता हेतु सोवियत संघ की ओर आकृष्ट हुईं।

(iv) **अधिनायकवाद का उदय:** युद्धकाल में युद्ध को भलीभाँति संचालित करने हेतु यूरोपीय देशों की सरकारें काफी शक्तिशाली रूप में उभरी। युद्ध पश्चात् की परिस्थिति हेतु यह शक्ति और भी आवश्यक समझी जाने लगी। राजनीतिक नेता देश की भलाई, सुरक्षा एवं उन्नति की दुहाई देकर असीम अधिकारों का उपभोग करने लगे। इसी आधार पर इटली, स्पेन, जर्मनी, रूस आदि देशों में मुख्य राजनीतिक दलों का शासन स्थापित हुआ। इतना ही नहीं, इस स्थिति ने और भी परिवर्तित रूप में मुसोलिनी एवं हिटलर को आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया।

(v) **अमेरिका की महत्ता में वृद्धि:** प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप यूरोपीय देशों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। चूँकि युद्ध में खर्च होने वाले अतिशय धन के कारण यूरोपीय देशों को संयुक्त राज्य अमेरिका से भारी मात्रा में कर्ज लेना पड़ा। फलतः युद्ध पश्चात् अमेरिका का प्रभाव बढ़ गया। इससे फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों का महत्त्व घट गया एवं अमेरिका का विश्व शक्ति के रूप में उदय हुआ।

(vi) **राष्ट्रसंघ की स्थापना:** युद्ध पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की आवश्यकता को महसूस करते हुए अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इसकी स्थापना में अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की महान भूमिका रही।

(vii) **वैज्ञानिक आविष्कार:** युद्ध काल में कई आविष्कार हुए। यह युद्ध 'केमिस्ट्री का युद्ध' था। अर्थात् इस युद्ध में रसायनों का व्यापक प्रयोग किया गया था। सैन्य प्रौद्योगिकी के विकास ने वैज्ञानिक आविष्कार हेतु उत्प्रेरक का काम किया। हवाई जहाजों, पनडुब्बियों सहित जहरीली गैसों एवं विभिन्न औषधियों की खोज हुई। फलतः विज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रगति दर्ज की गई।

(viii) **राष्ट्रीयता की विजय:** युद्ध पश्चात् हुए वर्साय की संधि के तहत राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। इस सिद्धान्त के आधार पर यूरोप में कुल आठ नए देशों का निर्माण हुआ जैसे- हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, फिनलैंड, लिथुआनिया आदि। इसके बावजूद भी विश्व में ऐसे देश थे जहाँ इन सिद्धान्तों को मान्यता नहीं दी गई जैसे आयरलैंड, मिस्र, भारत आदि जिस पर इंगलैंड का, फिलीपीन्स पर अमेरिका का एवं कोरिया पर जापान का अधिकार था। इतना ही नहीं, अफ्रीकी क्षेत्रों में यूरोपवासियों के विशाल औपनिवेशिक क्षेत्र थे।

(ix) **सामाजिक परिणाम:** प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में एवं उसके पश्चात् महिलाओं की तत्कालीन स्थिति में व्यापक सुधार हुआ। युद्ध में सैनिक कार्यों में पुरुषों की भागीदारी के कारण कृषि, उद्योग एवं विभिन्न व्यवसायों में पुरुषों की कमी हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इन कार्य क्षेत्रों में स्त्रियों की सहभागिता में व्यापक वृद्धि हुई। युद्ध पश्चात् महिलाओं को राजनैतिक अधिकार भी मिले जिसका एक प्रमुख उदाहरण था इंगलैंड में 1918 में 30 वर्ष से अधिक उम्र की महिलाओं को मताधिकार मिला।

विश्वयुद्ध के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक समानता का विकास हुआ। युद्धकाल में अनेक देशों के लोग रंग एवं नस्ली भेदभाव से ऊपर उठकर साथ-साथ लड़े थे। फलतः तीव्र जातीय कटुता में कमी आना स्वाभाविक था। इसके अलावा युद्ध के पश्चात् राजनीति में सर्वहारा का महत्त्व काफी बढ़ गया, क्योंकि युद्ध के क्रम में मजदूरों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसी परिप्रेक्ष्य में समाजवादी विचारधारा का उदय तथा विकास हुआ। युद्धकाल में महत्त्वपूर्ण उद्योगों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया और इस रूप में राजकीय समाजवादी विचारधारा का प्रसार किया। श्रमिकों द्वारा श्रमिक हित की प्राप्ति हेतु कतिपय

Copyright – Drishti The Vision Foundation

प्रयास किए गए। अनेक श्रमिक संगठन बने। यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी जो राष्ट्रसंघ के अंतर्गत 'अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' के रूप में सामने आई। यह संगठन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिकों के कल्याण जैसे विषयों पर केन्द्रित था।

विश्वयुद्ध के पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यापक विस्तार दर्ज किया गया। इसके अंतर्गत ब्रिटेन में प्राथमिक शिक्षा पर विशेष जोर देते हुए 14 वर्ष की आयु वर्ग तक के बच्चों को शिक्षा देना आवश्यक कर दिया गया। इसी तरह फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान आदि जैसे देशों में भी शिक्षा के चहुमुखी विकास पर विशेष ध्यान दिया गया।

आर्थिक परिणाम *(Economic Consequence)*

युद्धकाल में अनेक उद्योग नष्ट हो गए। भयंकर गोलीबारी से धन एवं जन की व्यापक क्षति हुई। युद्धकाल में स्थापित किए गए सैन्य-सामग्री आधारित उद्योग युद्धोपरांत बन्द कर दिए गए। फलत: बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई। वाणिज्य एवं व्यापार को भी धक्का लगा, चूँकि युद्धकाल में विभिन्न यूरोपीय देशों में बाहर से आयातित माल पर रोक लगा दी गई थी।

धन-जन के भारी नुकसान के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हो गई। श्रमिकों की मजदूरी बढ़ी, जबकि पैदावार घट गया। मुद्रा का व्यापक अवमूल्यन हुआ अर्थात कह सकते हैं कि मुद्रा का मूल्य घट जाने से व्यापार के क्षेत्र में अव्यवस्था एवं असंतुलन उत्पन्न हो गई।

पेरिस शांति सम्मेलन, 1919 *(Paris Peace Conference 1919)*

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी एवं उसके सहयोगी देशों (आस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गारिया एवं तुर्की) की पराजय हुई तथा विजयी मित्रराष्ट्रों ने युद्धोत्तर काल की व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से 1919 में पेरिस में एक शांति सम्मेलन का आयोजन किया। वैसे तो इस सम्मेलन में सभी विजयी देशों के प्रतिनिधि शामिल हुए थे परन्तु सम्मेलन के प्रमुख निर्णयों में अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज, फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशू एवं इटली के आरलैंडो का ही निर्णायक प्रभाव पड़ा था। फ्रांस के विदेश मंत्रालय में शांति सम्मेलन का अधिवेशन प्रारंभ हुआ। इस सम्मेलन की अध्यक्षता फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशू ने की थी। इस सम्मेलन में पराजित धुरी राष्ट्रों से समझौता करने हेतु 5 शांति संधियों का प्रारूप तैयार किया गया। इन शांति संधियों के फलस्वरूप यूरोप का राजनीतिक व भौगोलिक मानचित्र बिल्कुल परिवर्तित हो गया तथा अनेक भावी समस्याओं की उत्पत्ति हुई। इस सम्मेलन में जिन 5 संधियों का मसविदा तैयार किया गया, वे इस प्रकार हैं-

(i) वर्साय की संधि (28 जून, 1919) - जर्मनी के साथ
(ii) सेंट जर्मेन की संधि (10 दिसंबर, 1919) - आस्ट्रिया के साथ
(iii) निउली की संधि (27 नवंबर, 1919) - बुल्गारिया के साथ
(iv) त्रियानो की संधि (4 जून, 1920) - हंगरी के साथ
(v) सेव्रे की संधि (10 अगस्त, 1920) - तुर्की के साथ

ये सभी संधियाँ सम्मिलित रूप से पेरिस की संधियाँ कहलाती हैं। परन्तु इन संधियों में से वर्साय की संधि का विशेष महत्त्व है।

वर्साय की संधि *(Treaty of Versailles)*

मित्र राष्ट्रों द्वारा की गई सभी संधियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संधि वर्साय की संधि ही थी जो जर्मनी के साथ की गई थी। चार महीने के अथक परिश्रम के पश्चात् तैयार हुई उक्त संधि का मसविदा मित्रराष्ट्रों ने जर्मन प्रतिनिधिमंडल के सम्मुख प्रस्तुत किया। इस संधि पर विचार करने हेतु जर्मनी को दो सप्ताह का समय दिया गया। निश्चित ही यह संधि पूर्ण रूप से मित्रराष्ट्रों के हितों की संवर्धन एवं जर्मन हित के बलिदान पर आधारित थी। अत: जर्मनों द्वारा इस संधि की शर्तों का विरोध हुआ, तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज द्वारा जर्मनी के साथ पुन: युद्ध की धमकी दी गई। फलत: जर्मनी को बाध्य होकर वर्साय की संधि को स्वीकार करना पड़ा।

वर्साय की संधि की शर्तें *(Terms of treaty of Versailles)*

(A) प्रादेशिक-व्यवस्था- अल्सास लॉरेन का प्रसिद्ध समृद्ध क्षेत्र, जो 1871 ई. में जर्मनी द्वारा फ्रांस से छीन लिया गया था, वर्साय की संधि के तहत पुन: जर्मनी से लेकर फ्रांस को दे दिया गया। जर्मनी की सैन्य शक्ति से भयभीत फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लिमेंशू ने अपने देश को सुरक्षित रखने के लिए राइन नदी के बाएँ किनारे अर्थात् राइनलैंड पर लगभग 31 मील क्षेत्र का स्थायी रूप से असैन्यकरण कर दिया। इसका अभिप्राय यह था कि इस 31 मील वाले भू-भाग पर जर्मनी कभी भी सैन्य गतिविधियाँ संचालित नहीं करेगा। इसके अलावा राइनलैंड को उत्तरी, मध्य एवं दक्षिणी तीन भागों में विभक्त कर यह व्यवस्था की गई कि मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ उत्तरी भाग पर 5 वर्ष तक, मध्य भाग पर 10 वर्ष तक एवं दक्षिणी भाग पर अगले 15 वर्ष तक क्षेत्र में सुरक्षा बनाए रखने हेतु मौजूद रहेंगी।

यद्यपि फ्रांस राइनलैंड को प्राप्त करने की इच्छा रखता था परन्तु जब उसकी यह मंशा पूर्ण नहीं हो पायी तो उसने जर्मनी के समृद्ध कोयला क्षेत्र "सार" पर अधिकार करने का दावा प्रस्तुत किया और अंततः यह तय हुआ कि "सार" क्षेत्र की शासन

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

व्यवस्था राष्ट्रसंघ के अधीन संचालित होगी एवं सार कोयला खानों पर फ्राँस का स्वामित्व स्थापित हुआ। इस संबंध में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इन क्षेत्रों में 15 वर्षों के पश्चात् जनमत संग्रह द्वारा यह तय किया जाएगा कि यहाँ के लोग जर्मनी या फ्राँस में से किसके साथ रहना चाहते हैं और यदि इस जनमत संग्रह का परिणाम जर्मनी के पक्ष में जाता है तो उस स्थिति में इन कोयले की खानों को जर्मनी फ्राँस को निश्चित मूल्य देकर खरीद सकता है।

जर्मनी को सर्वाधिक नुकसान उसकी पूर्वी सीमा पर हुआ। मित्रराष्ट्रों द्वारा एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में पोलैण्ड के निर्माण का निर्णय लिया गया और जर्मनी के पूर्वी सीमा के अधिकांश भू-भागों को छीनकर नवनिर्मित पोलैण्ड राज्य को दे दिया गया। पोलैण्ड के लिए एक निश्चित समुद्री सीमा प्राप्त करने हेतु जर्मनी के बीचोंबीच एक विस्तृत भू-भाग जिसके अंतर्गत पोसेन एवं पश्चिमी प्रशा का संपूर्ण क्षेत्र शामिल था, पोलैण्ड को दे दिया गया। यह प्रदत्त क्षेत्र 'पोलिश गलियारा' के नाम से प्रसिद्ध था। इसके कारण पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से एकदम अलग-थलग हो गया। पोलिश गलियारे के उत्तरी छोर पर डान्जिंग नामक प्रसिद्ध बंदरगाह था जहाँ की संपूर्ण आबादी जर्मन थी। परन्तु विडंबना ये थी कि डान्जिंग को एक 'स्वतंत्र नगर' घोषित कर उसे राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया। प्रसिद्ध बाल्टिक बंदरगाह 'मेमेल' को प्रारंभ में राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया परन्तु बाद में इसे लिथुआनिया के अधीन कर दिया गया। श्लेसविग का प्रसिद्ध डच क्षेत्र जो 1864 में बिस्मार्क ने डेनमार्क से छीन लिया था, एक जनमत संग्रह के परिणाम के आधार पर पुन: डेनमार्क को लौटा दिया गया। इसके अतिरिक्त जर्मनी को साइलेशिया नामक क्षेत्र का एक छोटा भाग चेकोस्लोवाकिया को देने पडे तथा यूपेन, मार्सनेट एंव मल्मेडी के क्षेत्र बेल्जियम को मिले।

प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में स्थित विभिन्न द्वीपों सहित अफ्रीका महादेश में स्थित चार जर्मन उपनिवेशों से जर्मनी को वंचित कर दिया गया एवं इसे मित्रराष्ट्रों के संरक्षण में रखा गया। इस प्रादेशिक व्यवस्था से लगभग 13 प्रतिशत भू-भाग एवं 10 प्रतिशत आबादी जर्मनी के हाथ से निकल गयी। इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के आधार पर कहा जा सकता है कि जर्मनी प्रतिशोध की भावना में अधिक समय तक इंतजार नहीं कर सकता था।

(B) **सैन्य-व्यवस्था-** वर्साय संधि की सैनिक व्यवस्था भी जर्मनी हेतु काफी अपमानजनक एवं सैन्य दृष्टि से इसे निर्बल करने के उद्देश्य से प्रेरित थी। इस संधि के तहत जर्मन सेना की अधिकतम संख्या एक लाख तय की गई। जर्मनी का प्रधान सैनिक कार्यालय समाप्त कर दिया गया। सैन्य सामग्री सहित युद्धोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इतना ही नहीं जर्मनी के सभी नौ सैनिक जहाज जब्त कर लिए गए और साथ ही यह तय किया गया कि जर्मनी की नौ सेना में केवल छह युद्धपोत एवं इतने ही संख्या में गश्ती जहाज होंगे। जर्मनी हेतु पनडुब्बी जहाजों के निर्माण पर प्रतिबंध लगा दिए गए। आमतौर पर हम कह सकते हैं कि जर्मनी हेतु नि:शस्त्रीकरण की व्यवस्था आरोपित कर उसे सैन्य दृष्टि से बिल्कुल ही पंगु बना दिया गया। नि:शस्त्रीकरण पर आधारित इस घृणित व्यवस्था के अनुपालन एवं निगरानी हेतु जर्मनी के खर्च पर मित्रराष्ट्र द्वारा एक सैन्य आयोग स्थापित किया गया। ज्ञातव्य है कि जर्मनी के अत्यंत ही संवेदनशील राइनलैंड क्षेत्र का स्थायी रूप से असैन्यकरण कर दिया गया एवं इस क्षेत्र को अगले पंद्रह वर्षों के लिए मित्रराष्ट्रों के आधिपत्य में रखने की व्यवस्था की गई।

(C) **आर्थिक-व्यवस्था-** वर्साय संधि के तहत की गई व्यवस्था ने आर्थिक दृष्टि से जर्मनी की अर्थव्यवस्था की रीढ़ तोड़ दी। चूँकि इस संधि में इस बात को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया था कि जर्मनी एवं उसके सहयोगी राज्य ही विश्वयुद्ध के विस्फोट हेतु जिम्मेदार हैं। इसी आधार पर युद्ध से मित्रराष्ट्रों को हुई क्षति की भरपाई के लिए जर्मनी को क्षतिपूर्ति का दायित्व सौंपा गया। यद्यपि क्षतिपूर्ति की वास्तविक रकम वर्साय संधि में निश्चित नहीं की गई थी परन्तु यह व्यवस्था अवश्य की गई थी कि 1921 ई. तक जर्मनी 5 अरब डॉलर जमा करे। क्षतिपूर्ति से संबंधित एक बात और तय की गई कि क्षतिपूर्ति आयोग की संस्तुति पर ही अंतिम रकम तय की जाएगी। युद्धकाल में जर्मनी द्वारा फ्राँस के लोहे एवं कोयले का भरपूर उपयोग किया गया था और इसी आधार पर लोहे एवं कोयले से खानों से समृद्ध जर्मनी का सार क्षेत्र आगामी 15 वर्षों के लिए फ्राँस को दे दिया गया।

वर्साय-संधि एवं द्वितीय विश्वयुद्ध *(Treaty of Versailles and second world war)*

यह कहना काफी हद तक सत्य है कि वर्साय की संधि प्रत्यक्ष रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए जिम्मेदार थी। वर्साय संधि का उद्देश्य यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करना था, परन्तु इसके मूल में विद्यमान विषाक्त बीज मात्र 20 वर्षों के भीतर ही फूट पड़ा और द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में विश्व के महाविनाश का कारण बना।

यह तो निश्चित ही था कि वर्साय की संधि जैसे कठोर एवं अपमानजनक संधि की शर्तों को कोई भी स्वाभिमानी देश लंबे समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। अत: यह तो स्वाभाविक ही था कि भविष्य में जर्मनी पुन: युद्ध द्वारा अपने अपमान को धोने का प्रयत्न करता। द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज वर्साय की आरोपित संधि के शर्तों में मौजूद थे। चूँकि 1919 में जर्मनी असहाय था अत: वह वर्साय की कठोर संधि की घूँट पीकर रह गया। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे वह शक्ति का संचय कर संधि की एक-एक शर्त का उल्लंघन करने लगा। इस कठोर एवं प्रतिशोधात्मक संधि के अनेक भाग मित्रराष्ट्रों की सहमति, एवं विक्षोभ से संशोधित तथा भंग होते चले गए एवं जर्मनी ने संधि की शर्तों को ठुकराने में कोई भी कसर नहीं छोड़ी। इस बात को नजरंदाज नहीं किया जा सकता है कि विश्व के किसी भी संधि में इतनी तीव्र गति से संशोधन नहीं हुए जितने कि वर्साय संधि में। 1926 में इस संधि के प्रथम भाग में संशोधन किए गए जब जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता मिली। क्षतिपूर्ति के प्रश्न को अंतत: सन् 1932 में लोजान सम्मेलन द्वारा

Copyright – Drishti The Vision Foundation

समाप्त ही कर दिया गया। 1933-34 में जर्मन राजनीति में हिटलर के उत्कर्ष के पश्चात् वर्साय संधि की शर्तों को तोड़ना तो बहुत छोटी सी बात रह गई। 1935-36 में नि:शस्त्रीकरण संबंधी वर्साय संधि की शर्तों की सभी मर्यादाओं को हिटलर ने भंग कर दिया, खासकर जर्मन सेना को सीमित करने वाली शर्तों को। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने शीघ्र ही अपने खोए हुए भू-भाग को पुन: प्राप्त करने का सिलसिला प्रारंभ किया। 1935 में उसने राइनलैंड में फौज भेजकर उस पर अधिकार कर लिया और इस रूप में असैनिकीकरण संबंधी वर्साय संधि के उपबंधों को अस्वीकृत कर दिया। सितंबर, 1938 में जर्मन अल्पसंख्यकों को चेकोस्लोवाकिया से मुक्त कराने हेतु प्रेरित हुआ एवं लगभग समस्त चेकोस्लोवाकिया को ही जर्मनी में विलयित कर लिया। चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लेने के पश्चात् हिटलर ने अब पोलिश गलियारा एवं डान्जिंग के बंदरगाह की ओर ध्यान केन्द्रित किया। अंतत: जब वर्साय संधि द्वारा पोलैंड संबंधी व्यवस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न किया गया तो इसकी परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में सामने आई। अत: कहा जा सकता है कि वर्साय संधि की अन्यायपूर्वक एवं आरोपित व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए ही हिटलर ने घटनाओं की वह अनवरत् शृंखला शुरू की, जिसके कारण द्वितीय विश्वयुद्ध का विस्फोट हो गया। अत: एक अर्थ में वर्साय संधि शांति का अंत करने वाली संधि थी।

सेंट जर्मेन की संधि *(Treaty of Saint-Germain)*

ऑस्ट्रिया के साथ मित्र राष्ट्रों की संधि पेरिस के समीप सेंट जर्मेन में हुई। इस संधि के अनुसार ऑस्ट्रियन साम्राज्य का विखंडन हो गया। ऑस्ट्रिया ने हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया की स्वतंत्रता को मान्यता दी। इन सभी राष्ट्रों को ऑस्ट्रिया-हंगरी के बहुत से भू-भाग प्राप्त हुए। इस लूट में इटली भी कुछ पाने की इच्छा रखता था एवं उसे भी इरीट्रिया के क्षेत्र प्राप्त हुए।

सेंट जर्मेन की संधि के परिणामस्वरूप ऑस्ट्रिया को अपनी जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के हिसाब से तीन चौथाई हिस्से की हानि उठानी पड़ी। नि:शस्त्रीकरण की प्रक्रिया ऑस्ट्रिया में भी हुई। ऑस्ट्रियाई सैनिकों की संख्या घटाकर 30 हजार कर दी गई, नौसैनिक जहाज जब्त कर लिए गए, डैन्यूब नदी का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इतना ही नहीं, युद्ध की जिम्मेदारी का भार ऑस्ट्रिया पर भी डाला गया तथा क्षतिपूर्ति हेतु बड़ी रकम हर्जाने के रूप में देने की बात तय हुई।

त्रियानो की संधि *(Treaty of Trianon)*

यह संधि मित्र राष्ट्रों एवं हंगरी के बीच संपन्न हुई थी। इस संधि द्वारा हंगरी का अंग-भंग कर दिया गया, जैसे ट्रांसिलवेनिया एवं उसके साथ के कुछ प्रदेश रोमानिया को दिए गए। क्रोशिया, स्लोवानिया, बोस्निया-हर्जेगोविना यूगोस्लाविया को तथा स्लोवाकिया के क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को प्राप्त हुए, समुद्री मार्ग हेतु फ्यूम के भाग्य का निर्णय इटली एवं यूगोस्लाविया की सहमति पर छोड़ दिया गया। इतना ही नहीं, इस संधि के परिणामस्वरूप हंगरी पर नि:शस्त्रीकरण तथा क्षतिपूर्ति की जिम्मेदारी को पूरा करने हेतु दबाव दिया गया। इन विभिन्न कठोर संधियों के प्रति हंगरीवासियों में व्यापक आक्रोश फैला।

निउली की संधि *(Treaty of Neuilly)*

मित्र राष्ट्रों ने बुल्गारिया के साथ निउली की संधि की। इस संधि के तहत बुल्गारिया को जीते हुए प्रदेशों को वापस करना पड़ा। मैसिडोनिया का अधिकांश हिस्सा यूगोस्लाविया को एवं थ्रेस का प्रदेश यूनान को दिया गया। साथ ही बुल्गारिया को भी सैन्य एवं आर्थिक दृष्टिकोण से एकदम पंगु बनाने की हरसंभव कोशिश की गई। फलत: बुल्गारिया में भी इस संधि के प्रति तीव्र विरोध सामने आया।

सेव्रे की संधि *(Treaty of Sevres)*

इस संधि के अनुसार तुर्की साम्राज्य का विखंडन कर दिया गया। एक व्यवस्था के तहत तुर्की की सीमा एशिया माइनर प्रायद्वीप एवं कुस्तुनतुनिया नगर तक सीमित कर दी गयी। साथ ही एक विशेष प्रावधान द्वारा संरक्षण-प्रणाली की व्यवस्था की गई थी। इस प्रणाली के तहत फिलिस्तीन, ट्रांसजॉर्डन एवं मेसोपोटामिया इंग्लैंड को, जबकि सीरिया एवं लेबनान फ्राँस को प्रदान किए गए।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-8

1917 की रूसी क्रांति *(Russian Revolution of 1917)*

(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)

1917 की रूसी क्रांति मुख्य रूप से रूस की पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं, किसानों एवं मजदूरों की विपन्नता, निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन के अत्याचार, जन-विद्रोह, सरकार में मजदूरों की दशा में सुधार लाने की इच्छा शक्ति का अभाव आदि का सम्मिलित परिणाम था। 1917 ई. की रूसी क्रांति प्रथम विश्वयुद्ध के काल में ऐसी परिस्थितियों में हुई जब रूस की सेनाओं की सर्वत्र हार हो रही थी। परन्तु यह क्रांति युद्ध में रूस की सैनिक पराजय का परिणाम नहीं था। युद्ध ने रूस में उन प्रक्रियाओं को तीव्र कर दिया जो लंबे अर्से से रूस की जारशाही व्यवस्था की जड़ों को खोखला कर रही थी।

रूसी क्रांति के कारण *(Causes of Russian Revolution)*

(i) **रूस में निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी जारशाही तंत्र:** रूस के शासक को 'जार' कहा जाता था, जो एक निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक के रूप में बदनाम था। ऐसी स्थिति में जब 19वीं शताब्दी में लगभग संपूर्ण यूरोप में परंपरागत शासन के स्वरूप में व्यापक राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे, रूसी शासक दैवी शक्ति के सिद्धान्त के आधार पर रूढ़िवादी शासन को प्रश्रय दिए हुए थे। रूस का जार निकोलस द्वितीय, जिसके समय में क्रांति हुई थी, अत्यंत ही भोग-विलासी शासक था तथा प्रजा के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं लेता था। कृषक दासता से मुक्ति एवं रूस के औद्योगीकरण के कारण मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। परन्तु, इनमें से न तो कृषकों को और न ही मजदूरों को राजनीतिक अधिकार मिल सका। हालाँकि 1861 के पश्चात् कुछ स्वायत्तशासी परिषदें शहरों एवं गाँवों में अस्तित्व में आई, परन्तु इनका संगठन संतोषजनक नहीं था। इन परिषदों में भूमिपतियों एवं धनी लोगों का ही बोलबाला था। रूसी शासक जार द्वारा प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विरुद्ध घोर दमन की नीति अपनाई गई, जैसे प्रेस की स्वतंत्रता नहीं थी तथा नागरिकों को किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं मिले हुए थे। बौद्धिक विचारों पर भी कठोर नियंत्रण था। इसके अलावा जार निकोलस द्वितीय की पत्नी जरीना एवं मंत्री रासपुतिन भी निरंकुश शासन का घोर पक्षधर था। ये दोनों रूस के राजनीतिक एवं प्रशासनिक तंत्र पर विशेष नियंत्रण रखते थे। इन परिस्थितियों में जब 19वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे एवं राजतंत्र की शक्ति सीमित कर संवैधानिक राजतंत्र या गणतंत्र की स्थापना हो रही थी, रूसी जनता जारशाही व्यवस्था के विरुद्ध संगठित होने लगी।

(ii) **रूस-जापान युद्ध (1904-05):** 1904-05 की रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय ने रूसी राजनीतिक व्यवस्था के खोखलेपन को उजागर कर दिया। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् उपनिवेशों की तलाश में जापान ने चीन के मंचूरिया क्षेत्र पर रूस के अधिकारों को चुनौती दी और इसी मुद्दे पर रूस एवं जापान के मध्य युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में रूस की पराजय ने रूसी महानता को मिथ्या साबित कर दिया। एक छोटे से एशियाई देश जापान के हाथों एक विशाल देश रूस की पराजय के लिए रूसी जनता अब खुलकर जारशाही को दोषी ठहराने लगी। इस पराजय ने रूसी जनता को उदारवादी क्रांति हेतु प्रेरित किया। रूसी जनता द्वारा प्रतिनिधि सभा की मांग तीव्र हो गई। फलतः इस प्रतिकूल स्थिति में दबाव में आकर जार द्वारा जनता की इस मांग को स्वीकार कर लिया गया एवं 'ड्यूमा' नाम से प्रसिद्ध संसद की स्थापना हुई। परन्तु जार द्वारा अपनी सत्ता के क्रमिक क्षरण के भय से संसद को बार-बार भंग किया जा रहा था। फलतः जार एवं संसद के मध्य तनाव उत्पन्न हुए। 1904-05 की रूसी पराजय एवं संसद का संघर्षपूर्ण रवैया और जार की आम जनता की आकांक्षाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण रूख निश्चित रूप से 1917 की रूसी क्रांति के कारण बने।

(iii) **राजनीतिक जागरूकता तथा राजनीतिक दलों का उदय:** हालाँकि यह सत्य है कि रूस में औद्योगीकरण अन्य यूरोपीय देशों की तरह नहीं हुआ और न ही वहाँ मजदूरों की संख्या ही अधिक थी, परन्तु रूस में मार्क्स के अनुयायियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। इसका मुख्य कारण यह था कि मार्क्सवादी समूह मजदूरों के मध्य रहकर सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना बढ़ा रहे थे। जारशाही सरकार मार्क्सवादियों पर अनेक प्रतिबंध लगा रखा था, लेकिन फिर भी उनके अखबार तथा पर्चे निकलते रहे एवं छोटी-छोटी समितियों के माध्यम से उनका राष्ट्रव्यापी संगठन बनता जा रहा था। इस परिस्थिति में लेनिन, जो उच्च कोटि का संगठनकर्ता, कुशल लेखक एवं प्रभावशाली वक्ता था, की सक्रियता के कारण रूसी जनांदोलन में प्रगति आई तथा लोगों में राजनीतिक चेतना बढ़ी। 1904-05 की रूसी पराजय के फलस्वरूप देश में असंतोष में व्यापक वृद्धि हुई जिसका लाभ उठाकर अनेक राजनीतिक दल एवं राजनीतिक विचारधारा अस्तित्व में आए। इन राजनीतिक विचारधाराओं में मूलतः दो पक्ष थे, एक पक्ष संवैधानिक सुधारों का समर्थक था एवं शांतिपूर्ण तरीके से रूस में संवैधानिक परिवर्तन चाहता था। इसमें सामंतों की संख्या अधिक थी तथा ये राभा को जार से अधिक प्रभावशाली नहीं बनाना चाहते

Copyright – Drishti The Vision Foundation

थे। दूसरा पक्ष मूल रूप से इंगलैंड की तरह संवैधानिक राजतंत्र में विश्वास रखता था तथा मध्यम वर्ग द्वारा संगठित था। इन राजनीतिक दलों एवं जार के बीच संतोषजनक समन्वय स्थापित न होने के कारण 1917 की क्रांति की स्थिति उत्पन्न हुई।

(iv) **किसानों एवं मजदूरों की हीन दशा:** वस्तुत: रूस एक कृषि प्रधान देश था जहाँ की बहुसंख्यक जनता कृषक थी। परन्तु, कृषकों की स्थिति नाजुक थी। यद्यपि 1861 में जार एलेक्जेंडर द्वितीय द्वारा कृषिदासों की मुक्ति की घोषणा की गई लेकिन किसानों की स्थिति में संतोषजनक सुधार नहीं हो पाया। अभी भी रूसी ज़मीन का अधिकांश भाग कुलीनों एवं धार्मिक संस्थाओं तथा उससे संबद्ध व्यक्ति के अधीन था। इन बहुसंख्यक कृषकों को जमींदारों की भूमि पर अमानवीय तरीकों से कार्य करना पड़ता था। कृषकों को कई प्रकार के बेगार भी करने पड़ते थे। पुरातन कृषि प्रणाली से संतोषजनक उत्पादन न हो पाने तथा अत्यधिक शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध कृषक वर्गों में असंतोष में तीव्र वृद्धि हुई। इस परिस्थिति में क्रांतिकारी समाजवादी दल ने कृषकों को शासन के विरुद्ध भड़काया।

कृषकों की तरह ही श्रमिकों की भी कमोबेश यही स्थिति थी। रूस में औद्योगीकरण की प्रक्रिया विलंब से शुरू हुई- 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में। औद्योगीकरण के लिए पूंजी मुख्यत: विदेशों से आई, जिनकी मानसिकता अधिकतम मुनाफे की थी एवं मजदूरों के हितों की अनदेखी की गई। गरीबी एवं बेरोजगारी से तंग आकर लोग गाँव से शहर की ओर पहुँचने लगे। ऐसी स्थिति में उद्योगों के लिए मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे उनकी मजदूरी पर कुप्रभाव पड़ा। न्यूनतम मजदूरी एवं उद्योगपतियों की अधिकतम लाभ संबंधी प्रवृत्ति ने मजदूरों को हीन स्थिति में ला खड़ा किया। मजदूरों की इस दयनीय स्थिति के संबंध में गठित सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी ने इन श्रमिक असंतोष को क्रांति में परिवर्तित कर दिया।

(v) **समाजवादी विचारधारा का प्रसार:** वस्तुत: यूरोप में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाजवादी विचारधारा विकसित हुई। इन समाजवादी विचारकों का मुख्य उद्देश्य मजदूरों के हितों में जैसे उसकी कार्य संस्कृति, संतोषजनक मजदूरी एवं आवासीय दशाओं में सुधार संबंधी वातावरण तैयार करना था। इसी तरह रूस में जब औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई तब समाजवादी विचारधारा प्रसारित होने लगी, जिसकी परिणति थी- सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी एवं सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी पार्टी की स्थापना। इनमें से सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी सर्वहारा वर्ग को क्रांति का मुख्य आधार मानता था, कृषकों को नहीं जबकि सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी पार्टी किसानों को संगठित कर क्रांति का पक्षधर था। शीघ्र ही 1903 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी दो भागों में विभाजित हो गई- बोल्शेविक अर्थात् जो बहुमत में था एवं मेन्शेविक जो अल्पमत में था। बोल्शेविक पार्टी क्रांतिकारी रास्ता अपनाकर मजदूरों का शासन स्थापित करने का पक्षधर था तथा लेनिन ने इसे लोकप्रिय बनाने में महती भूमिका निभाई। मेन्शेविक वैसे तो मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास तो करते थे परन्तु साधनों में नहीं। वे क्रमिक परिवर्तन एवं क्रमिक विकास में विश्वास करते थे। इन समाजवादी दलों द्वारा किसान व मजदूरों को संगठित कर व्यवस्था परिवर्तन एवं क्रांति का आधार तैयार किया गया।

(vi) **राज्य का आर्थिक दिवालियापन:** 20वीं शताब्दी के आरंभिक काल में रूस विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्य बन गया था। इस स्थिति में प्रशासन एवं सुरक्षा हेतु राज्य के व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी जबकि विशाल रूसी साम्राज्य का अधिकांश भाग बंजर या पथरीली भूमि थी। कृषि दासता के उन्मूलन के बाद भी कृषकों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाया और न ही राज्य की आय में ही वृद्धि हुई।

इतना ही नहीं, जब विभिन्न यूरोपीय देश 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक-दूसरे से स्पर्द्धा कर औद्योगिक उन्नति में लगे हुए थे एवं उपनिवेशों को हासिल करने के दौर में शामिल थे, रूस बाल्कन युद्ध में फँसकर भारी मात्रा में धन, जन एवं समग्र शक्ति को नष्ट कर रहा था। वर्तमान परंपरागत कुटीर उद्योग अथवा नए औद्योगिक केन्द्र में रूसी मांग के अनुरूप आपूर्ति करने की क्षमता नहीं थी। इसके अलावा जो भी उद्योग रूस में थे, उनमें मजदूरों का काफी शोषण हो रहा था।

ऐसी आर्थिक स्थिति में रूस एक बड़े साम्राज्य के प्रशासनिक, सैनिक एवं निरंतर युद्धों के खर्च को वहन करने में समर्थ नहीं था। एक लंबे अर्से से अर्थात् 17वीं शताब्दी के अंत से ही इन युद्धों का सिलसिला प्रारंभ हो गया था। फलत: इससे देश की आर्थिक स्थिति और भी चरमरा गई। इसके बावजूद भी रूसी जारों ने अदूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाकर रूस को युद्ध में फँसाए रखा, जिसका असर आम जनता पर आर्थिक तंगी के रूप में सामने आया इसी आधार पर आम जनता द्वारा क्रांति में बढ़-चढ़कर भाग लिया गया।

(vii) **जार की रूसीकरण की नीति:** जार की रूसीकरण की नीति ने काफी हद तक 1917 की रूसी क्रांति का आधार मजबूत किया। रूस में रूसी, यहूदी, पोल, उज़बेक आदि जातियाँ निवास करती थीं। इन सभी जातियों की अपनी अलग-अलग सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपराएँ थी। इस संबंध में जार एलेक्जेंडर तृतीय, जो अत्यंत ही संकीर्ण विचारधारा का व्यक्ति था, ने 'एक जार, एक चर्च एवं एक रूस' की नीति का अवलंबन कर रूस की जातियों को अपनी संस्कृति को छोड़कर एकीकरण हेतु मजबूर कर दिया। जार के इस एकीकरण की नीति के परिणामस्वरूप गैर-रूसी जातियाँ जार की कट्टर विरोधी बन गई। अत: हम कह सकते हैं कि रूसी सरकार द्वारा रूसी संस्कृति को अल्पसंख्यक जातियों पर लादने के प्रयास से इन जातियों का आक्रोश सरकार के प्रति बढ़ने लगा जो क्रांति के रूप में प्रखर हुआ।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

(viii) **तात्कालिक कारण (प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की भागीदारी):** साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के चलते रूसी जारशाही ने रूस को प्रथम विश्वयुद्ध में ढकेल दिया। रूस के युद्ध में फँसने पर जर्मनी ने रूस के सर्वाधिक उपजाऊ पश्चिमी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस स्थिति में रूसी किसानों को सेना में जबरदस्ती शामिल किया जा रहा था। साथ ही, सेना को अस्त्र-शस्त्र एवं उचित प्रशिक्षण भी नहीं मिल पा रहा था। अत: बड़ी तादाद में रूसी सैनिक बेमौत मारे जा रहे थे। इसके अलावा देश में गरीबी एवं बेरोजगारी भी बढ़ने लगी। लोहे एवं कोयले के अभाव में कारखाने बन्द होने लगे। फलत: उत्पादन में कमी के साथ-साथ मजदूरों की छँटनी भी होने लगी। इस स्थिति में प्रथम विश्व युद्ध में रूस की पराजय होने लगी, सैनिक बगावत करने लगे और समस्त देश में असंतोष का वातावरण बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध में पराजय की संभावना बढ़ने से रूस की जनता इसे राष्ट्रीय अपमान के रूप में देखने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि रूसी जारशाही व्यवस्था विघटित होने लगी। अत: हम कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध ने रूस में क्रांति की प्रक्रिया एवं घटनाक्रमों को तीव्र कर दिया।

1917 की फरवरी/मार्च क्रांति *(February/March Revolution, 1917)*

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने से पूर्व रूसी शासनतंत्र घोर प्रतिक्रियावादी लोगों के गुट द्वारा संचालित होता था, जिसने रूस को युद्धरत् बना दिया। प्रथम विश्वयुद्ध जनित दुर्व्यवस्था और जारशाही की अयोग्यता ने रूसी जनता को एकदम बेहाल कर रखा था। जनवरी, 1917 को 'खूनी रविवार के 12वीं वर्षगाँठ' के अवसर पर भारी संख्या में मजदूरों ने हड़ताल की। सभी प्रमुख कारखानों में मार्च के अंत तक हड़ताल शुरू हो गई। मार्च 1917 (रूसी कैलेण्डर के मुताबिक फरवरी महीना) को पेट्रोग्राड (सेंटपीटर्सबर्ग) की सड़कों पर भूख एवं ठंड से बेहाल मजदूरों ने रोटी की माँग के साथ जुलूस निकाला एवं दुकानों, सरकारी संपत्तियों आदि को लूटना शुरू किया। इस स्थिति में सेना भी इन मजदूरों के साथ मिल गई। इन मजदूरों एवं सैनिकों द्वारा क्रांतिकारी सोवियत परिषद् का गठन किया गया। इस परिषद् में शासन का वास्तविक अधिकार नीहित था। साथ ही इस परिषद् ने ड्यूमा के सदस्यों के साथ मिलकर अस्थायी सरकार गठित की। ड्यूमा के सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी पार्टी के नेता अलेक्जेंडर केरेन्सकी ने अंतत: मंत्रिमंडल गठित की। इस प्रकार रूस में 300 वर्षों से स्थापित रोमानोव वंश के शासनकाल का अंत हो गया। इस नए सरकार की स्थिति प्रारंभ से ही काफी जटिल थी। सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि इस सरकार पर युद्ध संचालन का भार शुरू से ही आ पड़ा। इसके अतिरिक्त, सरकार को अपनी सत्ता स्थायी रखने हेतु उदार समाजवादियों की सहायता का सहारा लेना पड़ता था। इन राजनीतिक समस्याओं में जनता की विशेष दिलचस्पी नहीं थी एवं वह भोजन के अभाव तथा युद्ध से मुक्ति चाहती थी। परन्तु, केरेन्सकी के नेतृत्व में गठित यह सरकार जनता की इस माँग की पूर्ति करने में असमर्थ थी। यही वह कारण था जिससे जनता में उसके विरुद्ध व्यापक असंतोष फैला।

बोल्शेविक क्रांति (नवम्बर, 1917) *(Bolshevik Revolution: November, 1917)*

केरेन्सकी के नेतृत्व में गठित अस्थायी सरकार मुख्यत: मध्यमवर्ग का ही समर्थक थी। इस सरकार में मुख्य रूप से जमींदार, उद्योगपति एवं पूंजीवादी आदि शामिल थे। यह सरकार विशेषत: जनतांत्रिक एवं वैधानिक सरकार की स्थापना करना, मित्रराष्ट्रों के साथ युद्ध जारी रखना, निजी संपत्ति के अधिकार को सुरक्षित रखना तथा रूस की समस्त संस्थाओं में वैधानिक उपायों द्वारा परिवर्तन लाना अपना परम उद्देश्य समझती थी। परन्तु, बोल्शेविक इन मापदंडों से अधिक की अपेक्षा रखते थे। बोल्शेविक अपने प्रसिद्ध युद्ध विरोधी नारों के कारण किसानों, मजदूरों एवं सैनिकों के बीच काफी लोकप्रिय हो गए। बोल्शेविकों ने जनता से युद्ध बन्द करने, किसानों के बीच भूमि का वितरण तथा मजदूरों के हाथों उद्योगों की व्यवस्था सौंपने जैसे वादे किए। इस समय बोल्शेविकों के प्रसिद्ध नेता लेनिन ने स्थिति का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि सैनिक, किसान एवं मजदूर जैसे विशाल जनसमूह तत्कालीन परिस्थिति के विरुद्ध क्रांति के पक्ष में हैं। इस आधार पर उसने अक्टूबर, 1917 में एक घोषणा की जिसके पश्चात् बोल्शेविक सैनिकों द्वारा पेट्रोग्राड की सरकारी इमारतों, रेलवे स्टेशनों, तार एवं डाकघरों, पुलों, बैंकों आदि पर अधिकार जमा लिया गया। इस परिस्थिति में केरेन्सकी रूस छोड़कर भाग गया और अब लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक शासन की शुरुआत हुई। इस तरह लेनिन के नेतृत्व में अक्टूबर/नवंबर 1917 की रूसी क्रांति सफल रही।

- ज्ञातव्य है कि फरवरी/मार्च की क्रांति रूस में रोमानोव राजवंश की समाप्ति तथा अक्टूबर/नवंबर 1917 की रूसी क्रांति केरेन्सकी के नेतृत्व में गठित अस्थायी अंतरिम सरकार के पतन का सूचक है। इस तरह लेनिन के नेतृत्व में नए बोल्शेविक सरकार का गठन संभव हो पाया।

रूसी क्रांति के परिणाम *(Consequences of Russian Revolution)*

20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में सफल बोल्शेविक क्रांति के फलस्वरूप तत्कालीन एवं दूरगामी प्रभाव हुए। तत्कालीन प्रभाव के अंतर्गत रूस में निरंकुश शासन की समाप्ति हो गई एवं कुलीन तथा चर्च की सत्ता का अंत हो गया। साथ ही, इस क्रांति के फलस्वरूप रूस में संसार के प्रथम समाजवादी सरकार की स्थापना हुई और इस प्रकार जार का साम्राज्य सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ के रूप में परिवर्तित हो गया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

1917 ई. की रूसी क्रांति एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। प्रभाव की दृष्टि से इसका दायरा सिर्फ रूस तक ही सीमित नहीं था वरन् इस क्रांति का प्रभाव वैश्विक था। इस क्रांति ने रूस में रोमानोव राजवंश के जारशाही सत्ता का सदा के लिए अंत कर दिया। साथ ही किसान-मजदूरों के नेतृत्व में समाजवादी शासन स्थापित हुआ। इतना ही नहीं, वैश्विक दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि इस क्रांति की सफलता ने यूरोप में जो राजनीतिक चेतना उत्पन्न की उससे राजतंत्र विरोधी स्वर और अधिक प्रबल हो गए, जैसे आस्ट्रिया-हंगरी में हैप्सवर्ग राजवंश, जर्मनी में होहेनजोलर्न राजवंश तथा तुर्की में खलीफा की सत्ता का अन्त हो गया।

यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध रूस की क्रांति का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ फिर भी इस युद्ध से पूर्व रूस राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से खोखलेपन से ग्रसित भी था फिर भी प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में रूस में व्यापक अर्थव्यवस्था एवं अराजकता वाली स्थिति से जनमानस बेहाल हो गया। इस परिस्थिति में सत्ता में आए बोल्शेविक सरकार ने जर्मनी के साथ संधि कर रूस को युद्ध से अलग कर देने की घोषणा 1918 में कर दी।

नवगठित बोल्शेविक सरकार द्वारा मार्क्सवादी विचारधारा को साकार रूप प्रदान किया गया और समाजवाद का वास्तविक स्वरूप सामने आया। यह विचारधारा मुख्यतः किसान, मजदूरों एवं दलित वर्गों के बीच अत्यंत ही लोकप्रिय हुई। रूस में सफल विचारधारा इसने अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया। समाजवादी विचारधारा विश्व स्तर पर प्रसारित होने लगी। इस प्रसिद्ध विचारधारा के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार हेतु मार्च 1919 में प्रथम कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (कॉमिन्टर्न) की स्थापना हुई।

वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध ने औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की पोल खोल दी तथा इसका अमानवीय चेहरा सामने आया। अतिशय शोषण पर आधारित इस औपनिवेशिक व्यवस्था में उपनिवेशों की जनता प्रजातात्रिक एवं नागरिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थी। इस बोल्शेविक क्रांति के फलस्वरूप उपनिवेशों में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन तीव्र हुए। लेनिन ने सत्ता की बागडोर संभालते ही सोवियत रूस को साम्राज्यवाद विरोधी घोषित किया तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व की जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इस घोषणा के परिणामस्वरूप एशिया एवं अफ्रीका के प्रायः सभी उपनिवेशों द्वारा सोवियत संघ को अपना स्वभाविक मित्र एवं समर्थक माना जाने लगा।

रूस की क्रांति से प्रभावित होकर औद्योगिक देशों के मजदूर में संगठन का भाव जगा एवं वे अपनी दीन-हीन दशा से मुक्ति हेतु संघर्ष करने लगे। इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप इन्हें कई सुविधाएँ भी मिलीं। इसी श्रमिक संगठन की तीव्रता का उदाहरण हमें राष्ट्रसंघ के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना के रूप में मिलता है।

क्रांति के पश्चात् जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई, उसके अधीन उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे भूमि, उद्योगों आदि का समाजीकरण हो गया। अर्थात् समाज की आवश्यकताएँ उत्पादन का मूलाधार बन गईं। पूँजीपतियों, जमींदार वर्गों, कुलीनों आदि को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, वे अब समाप्त हो गए। इस आर्थिक समानता वाली व्यवस्था के अंतर्गत बिना मुआवजे के व्यक्तिगत संपत्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस रूप में रूस में आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की प्रक्रिया शुरू हुई। साथ ही, रूस में नियंत्रित अर्थव्यवस्था की नींव पड़ी और इस रूप में आर्थिक विकास की दर तीव्र हुई। इसी तीव्र आर्थिक विकास दर के आधार पर रूस 1929 के विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दुष्प्रभाव से अपनी अर्थव्यवस्था को सुरक्षित रखने में सफल हो सका।

क्रांति की सफलता के पश्चात् सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ का निर्माण कर कुल, लिंग, नस्ल, धर्म एवं जाति भेद किए बिना रूस के सभी नागरिकों को (रूसी या गैर रूसी राष्ट्रीयता के लोगों को) समान अधिकार प्रदान किए गए। इस व्यापक समानता के फलस्वरूप राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक आदि योग्यता के आधार पर एक समान अवसर समस्त रूसी समाज को मिलने लगा। रूस को धर्मनिरपेक्ष घोषित कर सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया। इस क्रांति के एक विशेष प्रभाव स्वरूप रूसी महिलाओं को मताधिकार, शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में पुरुषों के समकक्ष अधिकार दिए गए।

दरअसल, रूसी क्रांति का प्रभाव विश्वव्यापी था। मानव एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा में निहित सिद्धांतों की तरह मार्क्स के विचारों को व्यापक रूप से लागू करने की बात तय की गई। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी आंदोलन का संगठन इसी का परिणाम माना जाता है। प्रथम समाजवादी आंदोलन होने के कारण रूसी क्रांति ने भावी घटनाक्रम को भी प्रभावित किया एवं संपूर्ण विश्व को एक नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के दौर से गुजरना पड़ा।

लेनिन एवं उसकी सफलताएँ (*Lenin and His Achievements*)

लेनिन का पूरा नाम ब्लादीमीर इलिच उलियानोव लेनिन था। उसका जन्म 1869 में हुआ था। रूस का ऐसा व्यक्ति जिसने रूस को घोर राजनीतिक संकट से उबारकर उसे विश्व का पहला साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था प्रदान की। लेनिन मार्क्स के विचारों का पक्का अनुयायी था तथा उन्हीं विचारों के आधार पर उसने 1895 में मजदूरों का एक संगठन बनाया। परन्तु उसी वर्ष अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण उसे गिरफ्तार कर साइबेरिया भेज दिया गया। 1917 की रूसी क्रांति के समय लेनिन जर्मनी की सहायता से स्वीट्ज़रलैंड से रूस आया। मार्च की क्रांति के फलस्वरूप केरेन्सकी के नेतृत्व में स्थापित मेन्शेविक सत्ता की अलोकप्रियता का लाभ उठाकर लेनिन ने नवंबर क्रांति द्वारा बोल्शेविक सत्ता को स्थापित किया। बोल्शेविक सरकार का वह सर्वेसर्वा था।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सत्ता ग्रहण करने पर लेनिन ने सर्वप्रथम युद्ध समाप्त करना अपना परम उद्देश्य बनाया। 1918 में रूस ने प्रथम विश्वयुद्ध से अपने को अलग कर लिया एवं युद्ध से पूर्व के अपने यूरोपीय प्रदेशों के 1/4 भाग पर दावा त्याग दिया। इस एक-चौथाई भाग के अंतर्गत पोलैंड, लिथुआनिया, स्टोनिया, लाटविया एवं फिनलैंड के क्षेत्र आते थे। इसके अतिरिक्त रूस ने तुर्की साम्राज्य में अपने सभी अधिकार छोड़ दिए। इस कदम से जहाँ एक ओर रूसी साम्राज्य की पराधीन जातियों को स्वतंत्रता मिली, वहीं स्वयं रूस को अपनी आंतरिक स्थिति को संभालने का अवसर मिला।

लेनिन ने सत्ता संभालते ही भूमि पर से व्यक्तिगत अधिकार समाप्त कर दिया एवं किसानों को बिना कर दिए ही खेत जोतने का अधिकार दिया। इसके अलावा मजदूरों ने बड़े-बड़े उद्योगों का प्रबंधन अपने हाथों में संभाल लिया। इस प्रकार भूमि एवं उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। बोल्शेविक सत्ता ने रेल, बैंक, खान सहित अन्य उद्योगों को सरकारी संपत्ति बना लिया। रूसी चर्च की अकूत संपत्ति बिना किसी भी प्रकार के मुआवजे के जब्त कर ली गई। इस स्थिति में लेनिन ने जार द्वारा लिए गए देशी एवं विदेशी ऋण की अदायगी को रद्द कर दिया तथा उसे चुकाने से इनकार कर दिया। लेनिन की इन कार्रवाईयों से देशी सहित विदेशी पूँजीपति क्षुब्ध हो गए। इन पूँजीपतियों ने रूसी बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध आक्रामक तेवर अपना लिया, स्थिति ऐसी हो गई कि 1919 के अंत तक ऐसा लगने लगा कि साम्यवादी रूस ध्वस्त हो जाएगा। परन्तु, लेनिन ने इस विषम परिस्थिति का सफलतापूर्वक सामना किया। इस संबंध में उन्हें इस बात का अहसास हुआ कि यदि क्रांतिजन्य व्यवस्था की रक्षा नहीं की गई तो क्रांति की सार्थकता नहीं रह जाएगी। इसी कारण से लेनिन ने क्रांतिविरोधी षड्यंत्रकारियों को दबाने हेतु 'चेका' नामक पुलिस संगठन कायम किया। इस पुलिस संगठन ने दृढ़तापूर्वक क्रांतिविरोधी सभी कार्रवाईयों को दबाया। यद्यपि 1917 की बोल्शेविक क्रांति अपने शुरुआती समय में अहिंसक थी, परन्तु क्रांति के बाद सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से होने वाले उपद्रवों को शांत करने के लिए क्रांति को हिंसक होना पड़ा। 1918-1922 के बीच हजारों व्यक्तियों को क्रांतिविरोधी कहकर मार डाला गया।

क्रांतिविरोधी आंतरिक तत्त्वों को काबू में करने के बाद लेनिन बाहरी शत्रुओं को नियंत्रण में लाने को प्रयत्नशील हुआ। इसके लिए ट्राटस्की तथा स्टालिन को सीमाओं पर युद्ध के लिए भेजा गया जिससे आक्रमणकारी राष्ट्रों ने अपनी नाकाबंदी हटा ली और अंततः 1924 तक इटली, जर्मनी एवं इंगलैंड ने बाध्य होकर बोल्शेविक सरकार को मान्यता दे दी।

इन आंतरिक एवं विदेशी षड्यंत्रों एवं आक्रमणजनित समस्याओं के कारण रूस को गंभीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इस स्थिति में उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया परन्तु बहुत से उद्योग धंधों में उत्पादन बढ़ने के बजाय तीव्र गति से घटने लगा। कृषि क्षेत्र में भी कमोबेश यही स्थिति आई। इसी परिप्रेक्ष्य में 1921 में लेनिन ने नई आर्थिक नीति को जारी की, जो नेप (NEP) कहलाई। इस नीति की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि इसके अंतर्गत छोटे-छोटे उद्योगों में पूंजीपतियों द्वारा 15-20 मजदूरों की सहायता से व्यक्तिगत रूप से काम करवाया जा सकता था। इस नीति के तहत किसानों एवं पूंजीपतियों को निजी संपत्ति रखने एवं उसमें बढ़ोत्तरी करने की सुविधा मिली। इन प्रयत्नों से उत्पादन में वृद्धि हुई और आर्थिक संकट के रूप में उत्पन्न गंभीर समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया जा सका। परन्तु यह प्रयास महज क्षणिक था। जब गंभीर आर्थिक संकट पर काबू पा लिया गया तो उक्त नीति को संशोधित कर मध्यम श्रेणी के पूंजीपतियों तथा किसानों के उत्पादन साधनों पर पुनः सरकारी नियंत्रण कर लिया गया।

वास्तव में रूस में औद्योगीकरण की महत्ता को रेखांकित करते हुए लेनिन ने औद्योगिक विकास के लिए रूस के विद्युतीकरण पर विशेष ध्यान दिया। वह विद्युतीकरण को समाजवाद का ही पर्याय मानता था। लेनिन ने बांधों का निर्माण कर विद्युत उत्पादन को यथेष्ट रूप से प्रोत्साहन दिया।

लेनिन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान हेतु यथेष्ट प्रयास करना था। परंपरागत रूप से रूसी समाज में महिलाओं की स्थिति पराधीनता वाली थी। नए संविधान के तहत् महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किए गए तथा देश के आर्थिक जीवन में उन्हें भाग लेने का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। इतना ही नहीं चर्च की कूपमंडूकता, रूढ़िवादिता और अंधविश्वास पर अंकुश लगाकर उसकी ज्यादती को नियंत्रित किया गया।

लेनिन का महत्त्वपूर्ण योगदान रूस के लिए एक सर्वसम्मत संविधान का निर्माण करना भी था। क्योंकि नई राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक संविधान की आवश्यकता महसूस की गई। 1918 में सोवियत की राष्ट्रीय कांग्रेस ने रूस का एक संविधान तैयार किया। अमेरिका तथा फ्राँसीसी क्रांति के समान ही यहाँ के संविधान में भी मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई। इस प्रसिद्ध घोषणा में यह बात स्पष्ट रूप से शामिल थी कि प्रत्येक मनुष्य को काम करने का अधिकार है और ऐसा वातावरण बनाने का वचन दिया गया जिसमें यह अधिकार कारगर हो सके। यह एक ऐसा अधिकार था जिसे अब तक किसी देश के संविधान में समावेशित नहीं किया गया था। इस नए संविधान के तहत् लोगों को विचार और अभिव्यक्ति, प्रेस आदि की स्वतंत्रता दी गई। यह स्वतंत्रता उसी सीमा तक सीमित थी जहाँ तक रूस की समाजवादी व्यवस्था पर कोई खतरा न हो। इसके अलावा 1924 में संपूर्ण देश को समाजवादी प्रजातंत्रों का संघ (Federal Union of the Socialist Republic) घोषित किया गया। इस संबंध में सभी रूसी जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार अर्थात् यदि वे चाहे तो संघ में शामिल हो जाएँ या संघ से हट जाएँ, का विकल्प दिया गया। सर्वोच्च विधान निर्मात्री संस्था सोवियत कांग्रेस के हाथों में सौंपी गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

स्टालिन: नीतियाँ एवं कार्य *(Stalin: Policies and Functions)*

1924 ई. में लेनिन की मृत्यु के बाद रूस का नेतृत्व स्टालिन के हाथों में आया। स्टालिन का यह पूर्ण विश्वास था कि अकेले रूस में भी समाजवाद का विकास संभव है। स्टालिन का यह विचार मार्क्सवाद की मूल अवधारणाओं से मेल नहीं खाती थी जिसमें यह स्वीकार किया जाता था कि सर्वहारा क्रांति किसी एक देश या क्षेत्र विशेष की सीमाओं के अंतर्गत सीमित नहीं किया जा सकता है। ट्राटस्की स्टालिन के विचारों से भिन्न विचार रखता था। उसके अनुसार- पूंजीवाद के विनाश के लिए विश्व क्रांति की ज़रूरत है, लेकिन इस समय रूस जैसे पिछड़े देश में जहाँ तकनीकी ज्ञान का अभाव है इसलिए अकेले समाजवादी व्यवस्था का निर्माण हो पाना संभव नहीं है। स्टालिन द्वारा ट्राटस्की के इस विचार का विरोध किया गया परिणामत: ट्राटस्की को देश छोड़ना पड़ा। स्टालिन के अनुसार, यदि प्रत्यक्ष रूप से पूंजीवादी देशों से युद्ध किया जाये तो रूस को जबर्दस्त हानि होगी, जबकि रूस के किसान-मजदूर अपने बल पर ही समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में सक्षम हैं। स्टालिन के इन विचारों को कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा समर्थन दिया गया।

सत्ता में आते ही स्टालिन ने भूमि पर लगान लेने की अनुमति दे दी। इससे प्रेरित होकर कुछ किसानों ने भूमि को पट्टे पर ले लिया। स्टालिन की इस नीति के फलस्वरूप किसानों के तीन वर्ग यथा निर्धन, मध्यम एवं धनी किसान अस्तित्व में आए। वर्गभेद समाप्त करने के लिए जहाँ एक ओर धनी किसानों पर कर लगाया गया वहीं दूसरी ओर निर्धन किसानों को कर मुक्त कर दिया गया। परन्तु, इसके बावजूद भी वर्गभेद पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सका। स्वाभाविक रूप से इस स्थिति में वर्गभेद को ध्यान में रखकर धनी किसानों का अंत करने हेतु सामूहिक कृषि को प्रोत्साहन दिया गया। कृषि के नए औजारों के प्रयोग को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया। राज्य द्वारा सामूहिक खेती हेतु औजार के रूप में ट्रैक्टर जैसी सुविधा प्रदान की गई। परन्तु इसका एक असंतोषजनक रूप यह भी था कि राज्य के पास इतने ट्रैक्टर उपलब्ध नहीं थे कि वे मांग को पूरा कर सकें। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि बहुत सी जमीनें बिना खेती के ही खाली रहने लगीं, उपज कम हो गई एवं अकाल की आशंका बढ़ गई।

स्टालिन ने देश को आत्मनिर्भर और विकसित अर्थव्यवस्था में ढालने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाया। रूस के पक्ष में एक बड़ा आधार यह था कि यहाँ प्राकृतिक संसाधनों की प्रमुखता थी। इसी आधार पर पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाया गया। यह योजना मूलत: मार्क्सवादी धारणा पर आधारित थी। इस प्रसिद्ध योजनाओं में जन साधारण की आवश्यकताओं की समग्र रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी और उसी के अनुरूप उद्योग-धंधों, कृषि तथा शिक्षण संस्थाओं आदि को प्रोत्साहित किया गया। वास्तव में इस योजना के परिणामस्वरूप रूसी जीवन के प्राय: सभी क्षेत्रों में व्यापक उन्नति हुई।

स्टालिन ने रूस को एक साक्षर राष्ट्र बनाने के लिए भी सफल प्रयास किया। इस संबंध में पंचवर्षीय योजनाओं के कारण शिक्षा के प्रसार-प्रसार हेतु भारी संख्या में स्कूल खोले गए। प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क एवं अनिवार्य कर दिया गया। रूसी भाषा सहित अन्य भाषाओं में भी पुस्तक प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई। इस शिक्षा व्यवस्था का एक और भी पक्ष था- वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना। शिक्षा संबंधी इन विभिन्न प्रयासों के फलस्वरूप रूस ने वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा क्षेत्र में काफी प्रगति की। इसके अलावा स्टालिन द्वारा सभी जातियों के सांस्कृतिक विकास को पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। देश में लोगों को कम से कम दो भाषाओं में शिक्षा की व्यवस्था की गई। उच्च शिक्षा का प्रबंध भी जातीय भाषा के माध्यम से किया गया। गौरतलब है कि जार द्वारा रूसीकरण की नीति द्वारा जातीय संस्कृति को दबा दिया गया था परन्तु अब रूस को भाषायी आधार पर प्रजातंत्रों में विभक्त किया गया एवं प्रत्येक प्रजातंत्र की सरकार अपनी भाषा में ही कानून बनाती थी साथ ही वह शिक्षा की व्यवस्था भी करती थी।

स्टालिन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी-रूस का एक नया संविधान। 1918 में लेनिन कालीन निर्मित संविधान को 1936 में स्टालिन ने आवश्यक संशोधन कर प्रस्तुत किया। इस संविधान में सरकारी तथा सामूहिक समाजवादी संपत्ति की व्याख्या की गई। इसके अंतर्गत जमीन, जंगल, खानें, बैंक एवं आवागमन के साधन समाजवादी सरकार की संपत्ति घोषित की गई। नए संशोधित संविधान में नागरिकों को अपनी व्यक्तिगत संपत्ति उस हद तक रखने का अधिकार प्राप्त हुआ जिस हद तक उसे अपने निजी उपयोग में लगाया जा सके एवं दूसरों के श्रम का शोषण न हो। इस संविधान के तहत् संसद का नाम "सुप्रीम सोवियत ऑफ द यू एस एस आर" रखा गया। 18 वर्ष की आयु वर्ग वाले सभी व्यक्ति को वोट देने का अधिकार दिया गया। सभी नागरिकों को काम पाने का भी अधिकार दिया गया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्टालिन ने रूस को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर द्वितीय विश्वयुद्ध में नाजी जर्मनी का सामना करने के लिए तैयार किया और द्वितीय विश्वयुद्ध में रूस सफल रहा।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

२८/७/१३

इकाई-9

फासीवाद और नाजीवाद
(Fascism and Nazism)

जब 1917 की बोल्शेविक क्रांति की सफलता के बाद रूस में साम्यवादी सत्ता की स्थापना हो रही थी उसी समय इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नाजीवाद का आविर्भाव हो रहा था। अधिनायकतंत्र पर आधारित फासीवादी एवं नाजीवादी विचारधाराएँ स्वरूप एवं प्रकृति में साम्यवाद विरोधी थीं तथा इसमें जनता की स्वतंत्रता, समानता एवं अधिकारों का लेशमात्र भी सम्मान नहीं था।

इटली में फासीवाद और मुसोलिनी *(Fascism in Italy and Mussolini)*

प्रादेशिक लाभ के प्रलोभन में पड़कर इटली प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर प्रवेश किया था। इस संबंध में 1915 की लंदन की गुप्त संधि के तहत इटली को व्यापक प्रादेशिक लाभ का वचन मित्रराष्ट्रों द्वारा दिया गया था। परन्तु, युद्ध समाप्ति के बाद हुए पेरिस सम्मेलन में इटली को सम्मानित स्थान नहीं मिल पाया। इटली की जनता इस विजय से प्रसन्न नहीं थी। वर्साय की संधि से इटली अपना इच्छित प्रादेशिक भू-भाग प्राप्त नहीं कर सका। उसे दक्षिणी टिरोल, ट्रेण्टिनो एवं डाल्मेशियन तट के कुछ भू-भाग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिला। इटली की बाल्कन क्षेत्र तथा अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। इटली में सर्वाधिक असंतोष का कारण था- फ्यूम बंदरगाह की प्राप्ति न हो पाना। इटली के नेता निराशा एवं क्षोभ की भावना लेकर ही पेरिस से वापस लौटे। युद्ध के कारण हुए अपरिमित आर्थिक क्षति ने भी इटली की अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी। एक घोर आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। विदेशी कर्ज के कारण इटली की अर्थव्यवस्था चरमरा गई। देश में उद्योग धंधे एवं व्यवसाय ठप्प पड़ गए थे और बेकारी की समस्या ने गंभीर रूप धारण कर लिया था। इस विषम परिस्थिति में विभिन्न राजनीतिक दल सक्रिय हो गए। समाजवादियों द्वारा मजदूरों एवं कृषकों को पूंजीपतियों एवं जमींदारों के विरुद्ध भड़काया गया। इटली की तत्कालीन सरकार इस अराजकता वाली स्थिति को नियंत्रित करने में नाकाम हो रही थी। इस परिस्थिति में एक गृह युद्ध की संभावना बन रही थी। चूँकि तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था में उभरते हुए समाजवादी शक्तियों में शासन का कार्यभार संभालने की क्षमता नहीं थी, इसलिए इटली में नेतृत्व के लिए एक नवीन दल का मार्ग प्रशस्त हो गया। शीघ्र ही इटली में राष्ट्रवादियों की शक्ति जोर पकड़ने लगी तथा देश के सभी असंतुष्ट वर्ग उसके झंडे तले एकत्रित होने लगे। इस फासिस्ट शक्ति ने मुसोलिनी के नेतृत्व में एक निश्चित एवं परिपक्व स्वरूप धारण किया।

मुसोलिनी एवं उसकी फासीवादी नीतियाँ *(Mussolini and His Fascist Policies)*

एक अध्यापक से उन्नति करके बेनिटो मुसोलिनी इटली का प्रधानमंत्री बना एवं एक नवीन राजनीतिक चिंतन के रूप में फासीवादी विचारधारा को स्थापित किया। मुसोलिनी ने तत्कालीन स्थितियों का लाभ उठाकर इटली में फासी संस्थाओं का निर्माण किया एवं अंत में सम्राट को भयभीत कर 1922 में इटली का प्रधानमंत्री बन गया।

मुसोलिनी का जन्म 1885 में इटली के एक छोटे से गाँव में हुआ था। उच्च शिक्षा के लिए वे स्विट्ज़रलैंड गए। स्विट्ज़रलैंड में समाजवादियों के विचारों से प्रभावित होकर मुसोलिनी समाजवाद की ओर आकर्षित हुआ। वहाँ उसने एक मजदूर संघ का गठन एवं हड़ताल का अयोजन कराया। इटली वापस आकर मुसोलिनी ने समाजवादी आंदोलन को प्रोत्साहन दिया। 1912 में प्रसिद्ध 'अवंति' नामक समाजवादी समाचारपत्र का संपादन किया। परन्तु समाजवाद के इतने बड़े पोषक होने की मुसोलिनी की यह प्रवृत्ति लंबे समय तक कायम नहीं रह सकी। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मुसोलिनी की समाजवादी विषयक विचारधारा एकदम उलट गई। मुसोलिनी की यह इच्छा थी कि इटली मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो जाये ताकि विजय की स्थिति में ऑस्ट्रिया के अधीन वाले इटली के प्रदेश प्राप्त हो जाए। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों की तरफ से इटली के शामिल होने संबंधी मुसोलिनी का यह विचार साम्यवादियों के विचार से बिल्कुल ही भिन्न था क्योंकि साम्यवादी युद्ध के बिल्कुल विरुद्ध थे। यही कारण था कि मुसोलिनी एवं साम्यवादियों में खटास उत्पन्न हो गया। अब मुसोलिनी घोर राष्ट्रवादी बन गया। 1915 में इटली के युद्ध में भाग लेने के क्रम में मुसोलिनी सोवियत संघ के साम्यवादी विचारों को इटली के लिए हानिकारक मानता था और इस रूप में वह साम्यवाद का विरोध करता था।

प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम चरण तक आते-आते देश की बिगड़ती आर्थिक स्थिति, कानून-व्यवस्था की जर्जर स्थिति, पेरिस शांति सम्मेलन के असंतोषजनक निर्णय एवं साम्यवादी क्रांति के भय के कारण जनता के विभिन्न वर्ग तत्कालीन सरकार के विरोधी हो गए। ऐसी विषम परिस्थिति में मुसोलिनी ने युद्ध समाप्ति के पश्चात् फेसियो-आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारंभ किया। 1919 में उसने समस्त सैनिकों के नाम एक घोषणा प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने सैनिकों से देश के भविष्य निर्माण में भाग लेने का आह्वान

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

किया। धीरे-धीरे मात्र दो वर्षों के भीतर ही इटली के सभी बड़े-बड़े नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में फेसियो का नेटवर्क बन गया। इस फेसियो के सदस्य 'फासिस्ट' एवं इसके सिद्धान्त 'फासिज़्म' कहलाए। मुसोलिनी ने अपनी पूरी क्षमता फासिस्ट शक्ति को संगठित करने में लगा दी। फलतः देश में फासिस्ट दल का तीव्र गति से प्रचार एवं प्रसार हुआ। इस दल की लोकप्रियता का एक उदाहरण 1921 के चुनाव में देखने को मिला जब इस पार्टी के 35 सदस्य इटली के संसद हेतु निर्वाचित हुए। अपनी शक्ति में वृद्धि के लिए मुसोलिनी ने 'काली कमीज' नामक स्वयंसेवक दल का गठन किया एवं स्वयं इस संगठन का प्रधान सेनापति बन गया। कुछ ही समय बाद मुसोलिनी का फासिस्ट दल इटली का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल बन गया। उसने मजबूत स्वयंसेवक सेना के माध्यम से अपने विरोधियों, विशेषकर साम्यवादियों का दमन करना प्रारंभ किया। मारपीट एवं तोड़-फोड़ की राजनीति में विश्वास करने वाले मुसोलिनी इटली की साम्यवादी पार्टी को काफी कमजोर बना दिया। 1922 ई. तक वह इटली का सर्वशक्तिमान व्यक्ति बन गया। इसी वर्ष उसने नेपल्स नगर में एक सभा का आयोजन किया, जिसमें यह घोषणा की कि 27 अक्टूबर से पूर्व शासन सत्ता फासिस्टों के अधीन कर दी जाये अन्यथा रोम पर आक्रमण किया जाएगा। 27 अक्टूबर, 1922 को मुसोलिनी 50 हजार स्वयंसेवकों के साथ रोम की ओर बढ़ा। फासिस्टों के जबर्दस्त दबाव एवं मुसोलिनी की उग्रता को देखते हुए इटली के राजा विक्टर इमैन्यूएल ने शासन सत्ता मुसोलिनी के हाथों सौंप दिया एवं 30 अक्टूबर को नया मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया। 30 अक्टूबर को उसने अपने मंत्रिमंडल का निर्माण किया। यह प्रसिद्ध घटना 'रोम पर मुसोलिनी के आक्रमण' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुसोलिनी ने सिर्फ प्रदर्शन द्वारा ही अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण किया एवं इटली के शासन पर अधिकार जमाया।

सरकार पर फासीवादियों के कब्जे के पश्चात् इटली में आतंक का राज्य कायम हो गया। उभरते हुए समाजवादी आंदोलन को कुचल दिया गया एवं अनेक समाजवादी एवं कम्युनिस्ट जेल में डाल दिए गए। इटली पर एकछत्र राज्य स्थापित करने के लिए 1926 में फासिस्ट पार्टी को छोड़कर शेष सभी पार्टियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। यद्यपि यह बात सत्य है कि इटली की तत्कालीन स्थिति में फासिस्ट पार्टी ने देश हित में कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए। परंतु इसमें कोई दो राय नहीं कि इस पार्टी की ज्यादतियों के कारण लोकतंत्र नष्ट हो गया एवं न सिर्फ समाजवादियों का दमन किया गया बल्कि युद्ध की तैयारियाँ भी आरंभ हो गई। फासीवादियों का यह पूर्ण विश्वास था कि दो या दो से अधिक देशों के मध्य मेलमिलाप रह पाना संभव नहीं है। उसका यह प्रसिद्ध विचार था कि युद्ध मनुष्य को महान बनाता है। इस विचार ने स्पष्ट रूप से विस्तारवादी नीति को प्रश्रय दिया। इस तरह मुसोलिनी इटली का भाग्य विधाता बन गया और प्रजातंत्र को दफनाकर उसकी कब्र पर एक तानाशाही ढाँचा खड़ा किया।

मुसोलिनी की सफलता के कारण *(Causes of Success of Mussolini)*

मुसोलिनी के उत्थान में उसके व्यक्तिगत प्रयास तथा उन परिस्थितियों का सम्मिलित योगदान रहा जिसमें फासिस्ट शक्ति इटली की सर्वोच्च शक्ति बन गई एवं मुसोलिनी सत्ता के सर्वोच्च पद पर जा पहुँचा। मुसोलिनी की सफलताओं के कारणों को हम निम्नलिखित बिंदुओं के अन्तर्गत देख सकते हैं-

(i) वर्साय की संधि एवं इटली के साथ विश्वासघात

प्रथम विश्वयुद्ध में इटली ने मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेते हुए अपनी भागीदारी दर्ज की। इस संबंध में मित्रराष्ट्रों द्वारा इटली से कई वादे किए गए थे, जिसमें विजयोपरान्त इटली को विभिन्न प्रादेशिक लाभ मिलने संबंधी वादा प्रमुख था। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद इटली ने अपने को विजेताओं की श्रेणी में खड़ा पाया और साथ ही वर्साय संधि के सूत्रधारों में से एक सदस्य इटली के प्रधानमंत्री औरलैंडो को शामिल किया गया। लेकिन इटली को विशेष सम्मानित स्थान का दर्जा नहीं मिल पाया और उसके साम्राज्य विस्तार की लालसा पर पानी फिर गया। जब इटलीवासियों को पता चला कि विजय के बावजूद भी इटली की दुर्बल व अकर्मण्य नीति के कारण इटली विशेष लाभप्रद स्थिति में नहीं रहा, तो इटली की जनता में घोर निराशा का संचार हुआ। इसी परिस्थिति में मुसोलिनी का जोशीला व्यक्तित्व सामने आया।

(ii) राष्ट्रवादियों में असंतोष

इटली की तत्कालीन सरकार की अकर्मण्यता का ही प्रतिफल था कि इटलीवासियों में सरकार के प्रति तीव्र असंतोष था। ऐसी विषम परिस्थिति में राष्ट्रवादी शक्तियों द्वारा फ्यूम पर अधिकार कर अपनी स्वतंत्र सरकार की स्थापना कर ली गई। इन कृत्यों से संपूर्ण इटली में घोर अराजकता का वातावरण बन गया।

(iii) पूंजीवादी वर्ग का समर्थन

फासीवाद शांतिपूर्ण औद्योगिक विकास का पक्षधर था। प्रथम विश्वयुद्ध काल में फैली अव्यवस्था, दयनीय आर्थिक स्थिति, पूंजीपति वर्गों- उद्योगपतियों एवं जमींदारों की संपत्ति पर समाजवादी आंदोलन से उत्पन्न संकट आदि कुछ ऐसे तत्त्व ऐसे थे जिससे पूंजीपति वर्ग

Copyright – Drishti The Vision Foundation

भयभीत थे। इसी आधार पर मुसोलिनी इस वर्ग का समर्थन पाकर अपनी स्थिति मजबूत करना चाहता था। मुसोलिनी ने हड़तालों का तीव्र विरोध किया एवं देश में एक मजबूत सरकार देकर उपनिवेशों की स्थापना से संबंधित विकल्प रखा। इस आदर्श वातावरण की योजना से वहाँ के पूंजीपतिवर्ग विशेष रूप से प्रभावित हुए एवं मुसोलिनी को बढ़-चढ़कर समर्थन दिया।

(iv) युद्धोत्तरकालीन आर्थिक दुर्दशा

प्रथम विश्वयुद्ध में इटली को व्यापक धन-जन की हानि हुई। युद्ध में हुए खर्च की पूर्ति हेतु इटली पर विदेशी ऋण बहुत ज़्यादा बढ़ गया। युद्ध के इस वातावरण में उद्योग एवं व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा। मुद्रास्फिति तथा बेकारी जैसी समस्या उत्पन्न हो गई। मजदूर, किसान, सैनिक सभी वर्गों में तत्कालीन परिस्थिति के प्रति तीव्र रोष था। असंतोष एवं रोष के इसी वातावरण में इटली में फासिस्ट शक्तियों ने गहरी पैठ बना ली।

मुसोलिनी की गृह एवं विदेश नीति *(Domestic and Foreign Policies of Mussolini)*

1922 में सत्ता प्राप्त करने के बाद मुसोलिनी ने इटली की आंतरिक दशा में सुधार आरंभ किया। युद्ध ऋण अदा किया तथा इटालवी मुद्रा-लीरा को अवमूल्यन से बचाकर अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किया। उसने उत्पादन, मजदूरी तथा मूल्य निर्धारण संबंधी विषयों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया। 1932 में उसने देश की आर्थिक समस्या का निराकरण करने के लिए एक 'बोर्ड' की स्थापना की, जिसकी अनुमति से ही कोई भी उद्योग स्थापित हो सकता था। उद्योगों की स्थापना हेतु ऋण की व्यवस्था, मजदूर-कृषक कल्याण से संबंधित विभिन्न योजनाएँ, विनिर्माण एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि के सार्थक प्रयास कुछ ऐसे कदम थे, जिससे इटली की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई। विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने की भी यथेष्ठ कोशिश की गई। यातायात के साधनों के रूप में जल, थल एवं वायुमार्ग के विकास को बढ़ावा दिया गया। मुसोलिनी का एक महान कदम था- पोप से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया जाना। 1871 ई. में रोम पर विक्टर इमैनुएल द्वितीय का अधिकार हो जाने से वेटिकन स्थित पोप की स्थिति अत्यंत कमजोर हो गई। इससे विश्व की ईसाई जनता रुष्ट हो गई थी। शासन की बागडोर संभालते ही मुसोलिनी ने इस विकट समस्या का हल करने के लिए पोप से संधि की। संधि के अनुसार पोप का रोम से अधिकार समाप्त हो गया एवं उसने रोम को इटली की राजधानी स्वीकार की जबकि मुसोलिनी ने पोप को वेटिकन का सार्वभौम शासक स्वीकार किया।

मुसोलिनी ने देश हित में विदेश नीति का निर्धारण किया एवं तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य में इटली को एक सम्मानित राष्ट्र का दर्जा दिलाने की हरसंभव कोशिश की। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से इटली युद्ध में शामिल हुआ, लेकिन पेरिस शांति सम्मेलन में उसकी उपेक्षा की गई। यह उपेक्षा मूलतः इटली की सैन्य निर्बलता का प्रतिफल था। पेरिस शांति सम्मेलन में उपेक्षा के इन्हीं कारणों को मुसोलिनी ने रेखांकित किया। उसने इटली की सैन्य शक्ति में वृद्धि हेतु जोरदार पहल की। फासीवादी सिद्धान्त पर आधारित मुसोलिनी की विदेश नीति युद्ध को आवश्यक जबकि शांति को 'युद्ध विराम' मानता था।

मुसोलिनी साम्राज्यवादी नीति में विश्वास करता था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि साम्राज्यवादी नीतियों को लागू करने हेतु कूटनीतिक दाँव-पेंच के द्वारा मित्रों की सद्भावना प्राप्त किया जाये। इस संबंध में 1933 में जर्मनी में हिटलर के चांसलर बनने का समाचार मुसोलिनी को इटली के लिए खतरा प्रतीत हो रहा था। हिटलर ऑस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाना चाहता था, जिससे इटली को वर्साय की संधि से प्राप्त टाइरल क्षेत्र खतरे में पड़ जाता। हिटलर को ऑस्ट्रिया पर अधिकार करने से रोकने के लिए मुसोलिनी ऑस्ट्रिया के नाजी विरोधियों को सहायता करने लगा। इस समय मुसोलिनी की विदेश नीति अवसरवादी हो गई। अबीसिनिया पर किए गए आक्रमण के फलस्वरूप हिटलर के साथ उसका मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हुआ। इंग्लैंड एवं फ्रांस ने इस आक्रमण की निंदा की। इस स्थिति में मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ से इटली का संबंध तोड़ लिया। इस विषय परिस्थिति में मुसोलिनी ने 1936 में 'रोम-बर्लिन धुरी' नामक प्रसिद्ध संधि की। 1937 में इटली उस प्रसिद्ध संधि में भी शामिल हो गया जो जर्मनी एवं जापान के बीच 1936 में रूस के विरुद्ध किया गया था। इन संधियों के परिणामस्वरूप 'टोकियो-रोम-बर्लिन धुरी' अस्तित्व में आई और द्वितीय विश्वयुद्ध में यही शक्तियाँ एक-साथ लड़ीं।

पेरिस शांति सम्मेलन में लिए गए महत्त्वपूर्ण निर्णयों के तहत मित्रराष्ट्रों ने रोड्स एवं डोडीकानीज जैसे भूमध्यसागरीय द्वीपों को इटली से लेकर यूनान को दे दिया था। इस व्यवस्था को इटली के लिए अपमान समझकर मुसोलिनी ने 1923 में इन द्वीपों पर अधिकार कर उसकी किलेबन्दी की। इन भूमध्यसागरीय द्वीपों पर कब्जा करने के बाद मुसोलिनी ने अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। गौरतलब है कि पेरिस शांति-सम्मेलन में इटली ने अल्बानिया की मांग की थी परन्तु उसकी ये मांगे स्वीकार नहीं की गई एवं अल्बानिया ने एक स्वतंत्र राष्ट्र का दर्जा पा लिया। सत्ता में आते ही मुसोलिनी ने इस स्वतंत्र राष्ट्र को पाने के लिए सफल प्रयास किया और अंततः इसे इटली साम्राज्य में मिला लिया। 1924 में युगोस्लाविया के साथ हुए संधि से मुसोलिनी को एड्रियाटिक सागर के शीर्ष पर स्थित फ्यूम नगर मिला जबकि युगोस्लाविया को 'फ्यूम नगर' का एक उपक्षेत्र 'पोर्ट बेरोस' प्राप्त हुआ। 1936 ई. में मुसोलिनी ने इथोपिया पर अधिकार कर लिया। अफ्रीकी उपनिवेशों के विभाजन में इटली के साथ अन्याय हुआ था एवं उसी अन्याय के प्रतिशोध में मुसोलिनी ने इथोपिया पर अधिकार किया था। इटली की सरकार ने यह दावा किया कि इथोपिया को सभ्य बनाना उसका 'पवित्र कर्त्तव्य' है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

मुसोलिनी इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि इथोपिया पर आक्रमण का इंगलैंड एवं फ्राँस द्वारा विरोध नहीं किया जाएगा। साथ ही फ्राँस-इटली में हुए संधि के फलस्वरूप औपनिवेशिक मतभेद दूर हो गए जिसके तहत फ्राँस ने लीबिया के वृहत भाग एवं फ्राँसीसी सोमालीलैंड का छोटा भाग इटली को दे दिया था। इस प्रकार हम कह सकते है कि मुसोलिनी ने यूरोप एवं एशिया के विभिन्न राष्ट्रों के साथ संधि कर अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

जर्मनी में नाजीवाद और हिटलर *(Nazism in Germany & Hitler)*

जर्मनी में नाजीवाद का उदय दो विश्वयुद्धों के बीच की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। इस अवधि में नाजीवाद ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में क्रांतिकारी भूमिका अदा की। यह एक आक्रामक विचारधारा थी जिसने समस्त यूरोपीय राजनीति में उथल-पुथल मचा दी। इस विचारधारा को कार्यक्रम, सिद्धांत एवं दर्शन के रूप में स्थापित करने का श्रेय हिटलर को है।

हिटलर का उदय

हिटलर का जन्म 1889 में ऑस्ट्रिया के निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। वास्तुकला एवं चित्रकला के प्रति बेहद लगाव के बावजूद हिटलर ने जर्मनी की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक एवं जातीय समस्यायों के विषय में गहराई से अध्ययन किया और इसी ज्ञान के आलोक में जर्मन राष्ट्रवाद के प्रति उसका विश्वास दृढ़ होता गया। साथ ही जर्मन समाज एवं राजनीति का यह ज्ञान उसे मार्क्स एवं यहूदी विरोधी बना दिया।

ऑस्ट्रियन होते हुए भी हिटलर प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की सेना में भर्ती हो गया एवं उसने निष्ठापूर्वक लड़ाई की। पामेरेनिया के अस्पताल में घायल पड़े हुए हिटलर ने जब वर्साय की अपमानजनक संधि की खबरें सुनी तो जर्मन सरकार के प्रति उसका खून खौलने लगा एवं उसने वहीं पर घोषणा कर दी कि जर्मनी की पराजय उसके नेताओं की बुझदिली का परिणाम है। उसी दिन उसने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि जर्मन राजनीति में प्रवेश कर देश का उद्धार करना उसका परम लक्ष्य है।

1919 में हिटलर ने सूचना प्रसारण मंत्रालय में नौकरी कर ली। इससे वह विभिन्न राजनीतिक दलों के संपर्क में आया। इस पद पर रहकर वह साम्यवादियों पर जासूसी करता रहा। इसी सिलसिले में वह एण्टन ड्रेक्सलर द्वारा स्थापित 'जर्मन वर्कर्स पार्टी' का सदस्य बना। हिटलर के प्रवेश से उस पार्टी की उन्नति दिन दूनी-रात चौगुनी होने लगी। उन्होंने जर्मन वर्कर्स पार्टी का नाम बदलकर एक नई पार्टी के रूप में राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी (नाजी पार्टी) का गठन किया। इस पार्टी के कार्यक्रम में 25 बातें शामिल की गई थीं, जो महान शक्ति के रूप में जर्मनी को स्थापित करने से संबंधित थीं। इस कार्यक्रम में जो मुख्य बातें घोषित की गई थी उसके अनुसार- (i) वर्साय जैसे अपमानजनक संधि को अमान्य घोषित करना (ii) विखंडित जर्मनी को एक सूत्र में बांधकर सशक्त जर्मनी का निर्माण किया जाना (iii) छीने गए जर्मन उपनिवेश को प्राप्त करना (iv) निःशस्त्रीकरण से संबंधित सारे प्रावधानों की अवहेलना करना (v) जर्मनी के शत्रु यहूदियों को बाहर निकालना (vi) जर्मनी में विदेशियों के प्रवेश पर रोक (vii) साम्यवादी विचारधारा के प्रसार पर रोक (viii) उदारवाद समर्थक समाचारपत्र के प्रकाशन पर प्रतिबंध आदि।

हिटलर के आकर्षक व्यक्तित्व, जोशीले भाषण एवं संगठन के तरीके से नाजी पार्टी तीव्र गति से उन्नति करती गई। हिटलर स्वयं इस पार्टी का फ्यूरर (नेता) था। जर्मनी की तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के उद्देश्य से हिटलर ने 1923 ई. में ल्युडेनडर्फ के साथ मिलकर सरकार का तख्ता पलटने की कोशिश की, परन्तु वह अपनी इस योजना में सफल नहीं हो सका। उसे गिरफ्तार कर लिया गया एवं 5 वर्ष के कारावास का दंड मिला लेकिन कुछ महीने के बाद ही उसे छोड़ दिया गया। जेल में ही हिटलर ने 'मिन कॉम्फ' नामक आत्मकथा का प्रथम भाग लिखा। इसमें उसने अपनी पार्टी की नीति, भावी कार्यक्रम तथा विकास का सर्वांगीण वर्णन किया है। इसमें उन्होंने आत्मनिर्णय सिद्धान्त के आधार पर जर्मन राज्य के अंतर्गत समस्त जर्मनभाषियों को सम्मिलित करना, जर्मनी की बढ़ती जनसंख्या हेतु प्रवास क्षेत्र का विस्तार करना, जो कि पूर्व की ओर रूस एवं उसके समीपवर्ती राज्य की ओर हो सकता है तथा फ्राँस को जर्मनी के शत्रु के रूप में रेखांकित करने आदि की बात की।

जेल से रिहा होने के पश्चात् उसने 1924 में पार्टी को पुनर्गठित करने की कोशिश की। पार्टी सदस्य भूरे रंग के कपड़े पहनते थे एवं स्वास्तिक इसका चिह्न था। सभी पार्टी सदस्य काले रंग का स्वास्तिक निशान वाले पट्टा बाँह पर बांधते थे। हिटलर ने 'आक्रमण सैनिक' (Stroom Troops) का गठन किया जो प्रारंभ में विभिन्न नाजी सभाओं की रक्षा एवं साम्यवादियों की सभाओं में उपद्रव मचाने जैसे कार्यो से संबद्ध थी। नाजी पार्टी के घोषित कार्यक्रमों को अमल में लाने हेतु हिटलर ने जर्मनी को 26 जिलों में विभाजित किया और इस रूप में जर्मनी का प्रत्येक क्षेत्र नाजी पार्टी के कार्यक्रमों से अवगत हुआ। यद्यपि हिटलर की नाजी पार्टी जर्मनी के दूरदराज के क्षेत्रों तक अपनी पहुँच बना ली थी परन्तु इसके बाबजूद भी 1928 तथा 1930 के चुनावों में नाजी पार्टी का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा। 1932 के चुनावों में नाजी पार्टी मजबूत पार्टी के रूप में सामने आई। इस उपलब्धि के पश्चात् 1933 में राष्ट्पति हिंडेनबर्ग ने हिटलर को प्रधानमंत्री पद पर सुशोभित किया। प्रधानमंत्री बनने के बाद हिटलर ने एक नेता, एक पार्टी, एक राज्य की नाजी सर्वसत्ता का आदर्श प्रस्तुत किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

हिटलर के उदय के कारण *(Causes of Rising of Hitler)*

(i) वर्साय की आरोपित, कठोर एवं अपमानजनक संधि

1919 में संपन्न वर्साय की संधि से जर्मनी को अपार प्रादेशिक क्षति हुई। नि:शस्त्रीकरण एवं भारी मात्रा में क्षतिपूर्ति की रकम की अदायगी जैसे आरोपित शर्तों के कारण समस्त जर्मन जनता अपमानित महसूस करने लगी। वास्तव में यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें सभी जर्मन जनता को एक ऐसे नेता की आवश्यकता महसूस हो रही थी जो जर्मनी को इस अपमान से मुक्ति दिला सके, अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिला सके एवं एक सशक्त राष्ट्र के रूप में जर्मनी को स्थापित कर सके। जर्मनी की सभी आशाएँ हिटलर जैसा व्यक्ति ही पूरा कर सकता था, जिसमें अदम्य साहस, उत्साह एवं राष्ट्र प्रेम की भावना थी। हालाँकि संधि के चौदह वर्ष बाद 1933 में नाजी दल को सत्ता की प्राप्ति हुई एवं हिटलर जर्मनी का प्रधानमंत्री बना। इन चौदह वर्षों की अवधि में वर्साय की संधि के कई कठोर शर्तों में परिवर्तन आ चुका था, जैसे लोकार्नो संधि के फलस्वरूप 1925 में जर्मनी राष्ट्र संघ का सदस्य बना, लोजान व्यवस्था के तहत क्षतिपूर्ति की रकम कम कर दी गई एवं नि:शस्त्रीकरण में भी ढील दी गई। यही वे तीन मूल तत्त्व भी थे जिससे जर्मनी विशेष रूप से आहत हुआ था। लेकिन हम यह कह सकते हैं कि वर्साय की संधि के बाद देश में फैली अव्यवस्था एवं अराजकता की स्थिति ने निश्चित रूप से नाजी पार्टी को अपनी जड़ें मजबूत बनाने का अवसर दिया तथा वर्साय संधि की इन कठोर शर्तों का हिटलर ने भरपूर उपयोग किया।

(ii) कमजोर आर्थिक स्थिति

वैसे तो 1929 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से लगभग संपूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था चौपट हो गई थी, परन्तु जर्मनी पर इस आर्थिक संकट का ज्यादा नकारात्मक प्रभाव पड़ा था। क्षतिपूर्ति की असहनीय भार से अर्थव्यवस्था गर्त में चली गई थी। क्षतिपूर्ति की इस रकम को पूरा करने के लिए जर्मनी ने अमेरिका से भारी मात्रा में कर्ज लिया था अर्थात् जर्मनी कर्ज के भार से भी दबा हुआ था। बेरोजगारी, बीमारी, कुपोषण तथा जनता की क्रयशक्ति में कमी जैसे निर्णायक कारकों से तत्कालीन शासन प्रणाली से आम जनता का मोह भंग हो गया। इस परिस्थिति में हिटलर ने इन सभी समस्याओं के निराकरण का आश्वासन दिया और इस आधार पर उसे जर्मन जनता का व्यापक समर्थन मिला।

(iii) साम्यवादी खतरा

हिटलर के उदय में साम्यवाद के संभावित खतरे का भी विशेष योगदान रहा। 1917 की रूसी बोल्शेविक क्रांति की सफलता के पश्चात् संपूर्ण विश्व में साम्यवादी सत्ता स्थापित करने का आह्वान किया गया। अर्थात् साम्यवादी सरकार का अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र रूस था। जर्मनी के पूंजीपति, जमींदार एवं कुलीन पादरी वर्ग साम्यवाद से काफी खौफ खाए हुए थे। उन्हें इस चीज का भय था कि साम्यवाद की मजबूती से उनकी शक्ति, प्रतिष्ठा एवं संपत्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। 1929 में आर्थिक संकट की गंभीर समस्याओं ने साम्यवाद की जड़ों को मजबूत किया और 1930 के चुनाव में साम्यवादी दलों का प्रदर्शन आशा के अनुरूप रहा। स्वाभाविक रूप से इसका ये प्रदर्शन पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों हेतु खतरे की घंटी थी। ऐसी स्थिति में हिटलर ने जर्मनी जनता को साम्यवादी भय दिखाकर अपने पक्ष में कर लिया तथा पूंजीपति वर्गों की असीम सहायता पाकर अपनी पार्टी की आर्थिक स्थिति को मजबूत किया, सामाजिक व राजनीतिक प्रतिष्ठा भी अर्जित की एवं 1933 के चुनाव में जबर्दस्त सफलता हासिल की।

(iv) यहूदी विरोधी भावनाएँ

जर्मनी की जनसंख्या में नगण्य ही सही परन्तु वहाँ के व्यापार, व्यवसाय एवं राजनीति में यहूदियों की अग्रगण्य भूमिका थी। यह वर्ग जर्मनी का वैभवशाली वर्ग था जिसके पास अकूत धन एवं ऐश्वर्य का संकेन्द्रण था। एक आम जर्मन जनता यह बात स्पष्ट रूप से जानती थी कि प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय का प्रत्यक्ष संबंध यहूदियों की राष्ट्रविरोधी व्यवहारों से ही था। यही कारण था कि जर्मनी के सरजमीं पर यहूदी विरोधी भावनाएँ व्याप्त थीं। हिटलर ने जर्मन जनता की इस सोच को और तीव्र एवं उग्र किया। हिटलर का कहना था कि इन वर्गों के पास धन के असीम स्रोत होने के बावजूद भी इस वर्ग ने जर्मनी की सुरक्षा एवं सैन्य व्यवस्था मजबूत करने की कोशिश नहीं की। इस तरह हिटलर ने यहूदियों को जर्मनी के साथ विश्वासघात करने वाला बताया और यहूदियों को जर्मनी से निष्कासित करना अपना परम लक्ष्य निर्धारित किया।

(v) हिटलर का व्यक्तित्व एवं उसका स्वयंसेवक दल

हिटलर के आकर्षक व्यक्तित्व ने जर्मनी की तत्कालीन समस्याओं को चिह्नित कर जनभावनाओं को तीव्र गति से उभारा। कूटनीति का सहारा लेकर हिटलर ने उपलब्ध सभी संसाधनों का अधिकतम उपयोग किया। जनता के मनोविज्ञान का एक अच्छा पारखी होने का परिचय देते हुए हिटलर ने समस्त जनता को राष्ट्र निर्माण में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

नाजीवाद के विकास में हिटलर द्वारा गठित की गई स्वयंसेवक दस्ते का भी विशेष योगदान है। स्वयंसवेक सेना के माध्यम से हिटलर ने सफलतापूर्वक नाजी पार्टी का प्रचार-प्रसार किया एवं अपने विरोधियों को नीचा दिखाया। जर्मनी की निःशस्त्रीकरण एवं सैन्य संख्या में होने वाली अप्रत्याशित कमी के फलस्वरूप बेरोजगार हुए सैनिक इस स्वयंसेवक दल में शामिल हो गए। इस तरह से स्वयंसेवक दल ने नाजी पार्टी को सबल आधार प्रदान किया।

(vi) वाइमर गणतंत्र की असफलता

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी पराजय की ओर बढ़ रही थी। फलत: जनदबाव में आकर तत्कालीन राजा कैसर द्वितीय सत्ता त्याग कर हॉलैण्ड चला गया। इस राजनीतिक अव्यवस्था की स्थिति में वहाँ गणतंत्रीय प्रणाली की स्थापना हुई। फ्रेडरिक एबर्ट राष्ट्रपति एवं फिलिप शीडमैन इस गणतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत प्रथम प्रधानमंत्री बने।

परन्तु वाइमर गणतंत्र जनता की आकांक्षाओं पर खरा उतरने में नाकाम रहा। जर्मनवासी वाइमर गणतंत्र से संतुष्ट नहीं थे एवं उसे ही राष्ट्रीय अपमान का दोषी मानते थे क्योंकि गणतंत्रीय सरकार ने ही वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर किए थे। इसलिए जर्मन जनता ने गणतंत्र के विरुद्ध हिटलर एवं नाजी पार्टी का खुलकर साथ दिया।

हिटलर की गृह नीति *(Domestic Policy of Hitler)*

सत्तासीन होने के बाद हिटलर ने अपनी शक्ति तथा देश के सर्वांगीण विकास हेतु हर संभव प्रयास किया। हिटलर की विदेश नीति का यह मापदंड ही था कि अपने विरोधी दलों के दमन के साथ-साथ अपने दल के अंदरूनी विरोधियों को भी दबाया जाय। यहूदियों के प्रति कठोर व्यवहार कर देश से पलायन करने हेतु मजबूर किया जाना, विकास की गति तीव्र करने हेतु बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराना, उद्योग-व्यापार को बढ़ावा दिया जाना एवं जर्मन नवयुवकों में सांस्कृतिक विकास पर ध्यान केंद्रित किया जाना आदि हिटलर की गृह नीति के तत्त्व थे। इन सभी प्रयासों से जर्मनी की आंतरिक स्थिति सुदृढ़ हुई।

शासन की बागडोर संभालते ही हिटलर निरंकुश अधिनायक तंत्र की ओर उन्मुख हुआ। समस्त राजकीय शक्ति को अपने हाथ में केंद्रित कर विरोधियों को दबाने का सिलसिला शुरू किया। राज्य की सर्वसत्तावादी सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था का प्रबल पोषक हिटलर एक नेता, एक दल एवं एक राज्य की व्यवस्था में आस्था रखता था। सत्ता के पूर्ण केन्द्रीयकरण का समर्थक हिटलर ने जर्मनी के संघात्मक शासन प्रणाली को एकात्मक स्वरूप प्रदान किया। नाजी दल की केंद्रीय समिति लोकसभा की सदस्यता हेतु उम्मीदवारों की सूची तैयार करती थी एवं ये सभी उम्मीदवार सर्वसम्मति से संसद के सदस्य हो जाते थे। हिटलर की इस अधिकनायकतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत नाजी दल के अतिरिक्त सभी दलों को भंग कर दिया गया एवं अन्य दलों के संगठन को अवैध घोषित कर दिया गया। हिटलर की अधिनायकतंत्रीय विचारधारा नागरिक स्वतंत्रताओं पर अंकुश लगाती थी। हेनरिख हिमलर के नेतृत्व में गुप्तचर प्रणाली (गेस्टापो) का गठन किया गया। इस संगठन का नेटवर्क संपूर्ण जर्मनी में फैला हुआ था। यह गुप्तचर प्रणाली इतनी सक्रिय थी कि छोटी-छोटी बातों की जानकारी भी हिटलर तक द्रुतगति से पहुँच जाती थी। हिटलर की अधिनायकवादी दृष्टिकोण की सफलता में इन गुप्तचर प्रणाली का यथेष्ट योगदान रहा।

हिटलर विशुद्ध प्रजातीयता अर्थात् रक्त की शुद्धता में विश्वास करता था। जर्मनी में रहने वाले यहूदियों को वह अनार्य कहकर नफरत करता था। इन यहूदियों का दमन करने के उद्देश्य से हिटलर ने अप्रैल, 1933 में दमनकारी कानून बनाए। इस कानून के अनुसार यहूदियों को वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया एवं किसी भी राजकीय पदों हेतु उसे उपयुक्त नहीं समझा गया। उन्हें निजी व्यवसाय करने पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। यहूदियों के प्रति किए गए इस व्यवहार के कारण जर्मनी से भारी संख्या में यहूदियों का पलायन होने लगा एवं वे अन्यत्र शरणार्थी के रूप में पनाह लेने लगे।

हिटलर ने यहूदी विरोधी अभियान के साथ-साथ रोमन कैथोलिकों के प्रति भी क्रूरता एवं नृशंसता का व्यवहार किया। इसके विरुद्ध अभियान का मूलभूत कारण यह था कि इन लोगों ने नाजीवाद एवं हिटलर की सत्ता के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया था क्योंकि रोमन कैथोलिक की छवि अंतर्राष्ट्रीय थी जबकि हिटलर की व्यवस्था अर्थात् नाजीवाद राष्ट्रीयता का प्रतीक था। अनेक रोमन कैथोलिक पादरी को गिरफ्तार कर कठोर यातनाएँ दी गई और अंतत: इनकी राजनीतिक शक्ति का अंत कर दिया गया।

देश में व्याप्त आर्थिक अवनति को दूर करने हेतु पूँजीपतियों एवं श्रमिकों के अलग-अलग सिंडिकेट बनाए गए। श्रमिकों के काम के घंटे, छुट्टियों एवं पारिश्रमिक का निर्धारण, पूंजीपतियों का मुनाफा, वस्तुओं की कीमतें, आर्थिक संगठन से संबंधित व्यवस्था का निर्धारण, श्रमिक-उद्योगपतियों के झगड़े का निपटारा आदि विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार सिर्फ नाजी पार्टी से संबंधित व्यक्ति को प्राप्त था। इस व्यवस्था में श्रमिकों को हड़ताल के अधिकार से वंचित कर दिया गया। देशी उद्योग के उत्पादन को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया। देशी उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप निर्यात पक्ष पर विशेष जोर दिया गया जबकि आयात पक्ष को यथासंभव नियंत्रित किया गया। हिटलर के इस प्रयासों से विभिन्न व्यवसायों की आशातीत प्रगति हुई एवं उसकी आर्थिक दशा में सुधार हुआ। ज्यों-ज्यों देश की आर्थिक संरचना में वृद्धि होती गई त्यों-त्यों जर्मनी में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या का निदान होने लगा। हिटलर ने बेरोजगारी की जटिल

Copyright – Drishti The Vision Foundation

समस्याओं के समाधान हेतु लगभग 60 लाख बेरोजगार मजदूरों को 'मजदूर स्वयंसेवक सेना' के रूप में संगठित किया। इन मजदूर सैनिकों को भोजन, वस्त्र आदि सामग्री राज्य द्वारा उपलब्ध कराई जाती थी। ये सैनिक मूलत: निर्माणात्मक कार्य जैसे बंजर भूमि को कृषि भूमि में बदलना, सड़कें बनाना आदि कार्यों से संबद्ध थे।

हिटलर की गृह नीति के अंतर्गत एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि वह जर्मन जाति की श्रेष्ठता में असीम विश्वास करता था। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मन लोगों में हुए मनोबल की कमी को दूर करने के लिए हिटलर ने करिश्माई रूप से जर्मनी की प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया। जर्मन प्रजाति की श्रेष्ठता को सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किए। शिक्षा व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम मूलत: जर्मनी के लोगों में उत्कृष्ट प्रजातीयता, जर्मन जाति की उत्कृष्टता तथा अन्य जातियों विशेषकर यहूदियों के प्रति निकृष्टता के भाव भरे जाने पर केन्द्रित था।

हिटलर की विदेश नीति *(Foreign Policy of Hitler)*

हिटलर की विदेश नीति जर्मन राष्ट्रवाद पर आधारित था। सत्ता ग्रहण करने से काफी पहले वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मिन काम्फ' (आत्म-कथा) में विदेश नीतियों का निर्धारण प्रस्तुत कर चुका था। वह सर्व जर्मनवाद का कट्टर समर्थक था और बिखरे हुए जर्मनों को एकत्रित कर एक शुद्ध जर्मन साम्राज्य कायम करना चाहता था, जो रक्त से शुद्ध जर्मन जाति का प्रतिनिधित्व करता। हिटलर की विदेश नीति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू था -पूर्वी यूरोप में स्लाव प्रजाति को मिटाकर जर्मन साम्राज्य का प्रसार करना। इन विभिन्न विदेशी नीतियों को अमलीजामा पहनाने हेतु हिटलर उन सभी तरीके को अपनाने हेतु तैयार था जिससे जर्मन राष्ट्रवाद को अंतर्राष्ट्रीय दर्जा मिल सके।

1933 मे सत्ता में आते ही हिटलर ने वर्साय संधि के अपमान को अतिशीघ्र समाप्त करने के लिए कदम उठाया। उसने अक्टूबर, 1933 में जेनेवा में आयोजित नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेने पहुँचे जर्मन प्रतिनिधि को वापस बुला लिया एवं उसी समय राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने संबंधी सूचना भी दे दी। हिटलर ने जर्मनी पर वर्साय संधि द्वारा आरोपित क्षतिपूर्ति की व्यवस्था को मानने से भी इंकार कर दिया। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि क्षतिपूर्ति के रूप में जो रकम जर्मनी अभी तक अदा कर रही है वह न तो न्यायसंगत है और न ही इसका कोई औचित्य है। अत: जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की इस रकम को सदा के लिए बन्द कर दिया। वर्साय संधि के तहत आरोपित नि:शस्त्रीकरण संबंधी पहलू को हिटलर ने त्याग दिया एवं अतिवादी सैनिक सेवा आरंभ की तथा जर्मन सैन्यवाद को प्रबलता प्रदान की। हिटलर ने घोषणा की कि वर्साय संधि की कोई भी शर्त अब जर्मनी को स्वीकार नहीं है एवं अब से जर्मनी अपने को इस आरोपित संधि से मुक्त समझेगा। जर्मन राष्ट्रीयता एवं हिटलर की यह एक बड़ी उपलब्धि थी।

हिटलर ऑस्ट्रिया का जर्मनी में विलय चाहता था और इसके लिए पोलैण्ड से मदद अपेक्षित था। इसके अतिरिक्त वह पेरिस शांति सम्मेलन के तहत पोलैण्ड को दिए गए जर्मन क्षेत्र को प्राप्त करना चाहता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1934 में हिटलर ने पोलैण्ड से दस वर्षों के लिए समझौता किया और यह सुनिश्चित किया गया कि दोनों एक-दूसरे की वर्तमान सीमाओं का किसी भी प्रकार से अतिक्रमण नहीं करेगा। सभी जर्मन भाषा भाषी लोगों को एक सूत्र में पिरोना हिटलर की विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण पहलू था। अत: इस लक्ष्य को पाने के लिए हिटलर ने ऑस्ट्रिया के विलय की योजना बनाई, क्योंकि ऑस्ट्रियन जर्मन जाति के ही थे। इस संबंध में ऑस्ट्रिया में नाजी पार्टी की एक शाखा खोली गई और इसी पार्टी की सहायता से जर्मनी में ऑस्ट्रिया के विलय से संबंधित आंदोलन शुरू हुआ। विभिन्न रणनीति से डरा-धमकाकर एवं फिर जनमत-संग्रह कर अंतत: ऑस्ट्रिया को 1934 में जर्मनी में मिला लिया गया। इस कार्य में इटली एवं जापान की मित्रता का लाभ भी हिटलर को मिला था।

1935 में हिटलर की पुनर्शस्त्रीकरण संबंधी घोषणा के फलस्वरूप फ्राँस में खलबली मच गई क्योंकि हिटलर ने फ्राँस को अपना प्रबल शत्रु घोषित किया था। इस समय अंतर्राष्ट्रीय दाँव-पेंचों में हिटलर ने विशेष अभिरुचि दिखाई। वह मित्रराष्ट्रों की आपसी मनमुटाव एवं संशय की स्थिति से लाभ उठाना चाहता था। इस समय जर्मनी-ब्रिटेन मित्रता का वातावरण तैयार हुआ। फ्राँस एवं रूस के मध्य होने वाले संधि को ब्रिटेन शक की निगाह से देखता था। हिटलर यह जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी के शस्त्रीकरण की नीति का विरोध नहीं करेगा। इसी वातावरण में जर्मनी-ब्रिटेन समझौता (1935) संपन्न हुआ, जिसके अंतर्गत ब्रिटेन ने जर्मनी के शस्त्रीकरण पर सहमति जताई किन्तु यह बात भी तय हुई कि जर्मनी अपनी नौ सेना 35% से अधिक नहीं बढ़ा सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि हिटलर की यह एक महान कूटनीतिक विजय थी।

ब्रिटेन के साथ कूटनीतिक संबंध बनाने के बाद हिटलर ने आक्रामक रूख अपनाते हुए राइनलैंड क्षेत्र पर अधिकार जमाने के लिए प्रयास करने लगा क्योंकि वर्साय संधि के द्वारा जर्मनी पर यह प्रतिबंध लगा था कि राइनलैण्ड क्षेत्र में न तो वह सशस्त्र सेना रख सकता है और न ही किलाबन्दी कर सकता है। 1935 में हिटलर बगैर किसी संधि/समझौते की परवाह किए 35 हजार जर्मन सैनिकों की सहायता से राइनलैंड क्षेत्र को अधिकार में कर लिया।

हिटलर की इस आक्रामक नीति से यूरोपीय देश भयभीत हो गए। तेजी से बदलती अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में स्वाभाविक रूप से हिटलर को यूरोप में एक मित्र की आवश्यकता महसूस हुई। इसी का परिणाम था कि रोम-बर्लिन धुरी अस्तित्व में आया। अबीसिनिया युद्ध

Copyright – Drishti The Vision Foundation

के समय जर्मनी ने इटली का समर्थन किया था एवं स्पेन के गृहयुद्ध के अवसर पर फ्रैंको को हिटलर व मुसोलिनी दोनों ने मदद की थी। साथ ही मुसोलिनी एवं हिटलर दोनों साम्यवाद के जबर्दस्त विरोधी थे। अत: रोम-बर्लिन धुरी की उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी तरह बर्लिन-टोकियो धुरी भी 1936 में अस्तित्व में आई। रूसी साम्यवाद से परेशान जर्मनी एवं जापान दोनों देशों के साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में सोवियत संघ बाधक तत्त्व के रूप में था। अत: इसी परिप्रेक्ष्य में जर्मनी जापान के मध्य समझौतों के तहत बर्लिन-टोकियो धुरी बनी। अंतत: 1937 में रोम-बर्लिन धुरी रोम-बर्लिन टोकियो धुरी में परिवर्तित हो गई जब इटली बर्लिन-टोकियो धुरी में शामिल हो गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् नवनिर्मित देश चैकोस्लोवाकिया में जर्मन बहुल आबादी वाला क्षेत्र 'सुडेनटनलैंड' हमेशा जर्मन राष्ट्रवादियों हेतु परेशानी का सबब बना रहा। सत्तासीन होते ही हिटलर ने सुडेनटनलैंड में नाजी पार्टी की स्थापना के लिए प्रयास किया। नाजी पार्टी की स्थापना के पश्चात् हिटलर ने चेक सरकार को डराना-धमकाना शुरू किया और दृढ़तापूर्वक यह बात सामने रखी कि यदि चेक सरकार जर्मन बहुल सुडेटनलैंड के मुद्दों पर संतोषजनक कदम नहीं उठाती है तो बाध्य होकर सुडेटन-जर्मनों के न्यायपूर्ण अधिकारों की रक्षा के लिए चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही की जाएगी। यह जटिल राजनीतिक संकट को उत्पन्न करने वाली बातें थी क्योंकि चेकोस्लोवाकिया फ्रांँस एवं सोवियत संघ के साथ संधि से जुड़ा हुआ था। जर्मनी द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण की स्थिति में उसे चेकोस्लोवाकिया सहित फ्रांँस एंव सोवियत संघ से उलझने वाली स्थिति आ जाती। अत: इस जटिल स्थिति में 'म्यूनिख पैक्ट' का वातावरण तैयार हुआ। इस सम्मेलन में ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांँस एवं इटली के शासनाध्यक्ष ने भाग लिए। इस पैक्ट में सुडेटनलैंड का जर्मन बाहुल्य क्षेत्र जर्मनी को दिए जाने का फैसला लिया गया। म्युनिख पैक्ट एक ऐसा मोड़ साबित हुआ जिसमें चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया गया। हिटलर की प्रादेशिक भूख बढ़ती चली गई और वह संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया को ही प्राप्त करने हेतु उद्यत हुआ एवं 15 अगस्त, 1938 को चेकोस्लोवाकिया को जर्मन साम्राज्य के अंतर्गत समाहित कर लिया गया। चेकोस्लोवाकिया के पतन के बाद हिटलर ने लिथुआनिया को डरा-धमकाकर मार्च, 1939 में जर्मन बाहुल्य आबादी वाले मेमेल बंदरगाह क्षेत्र पर अधिकार कर लिया।

वर्साय की संधि के तहत अस्तित्व में आए नव राष्ट्र पोलैण्ड को बाल्टिक तट तक पहुँचने के लिए उसे जर्मनी के बीचों-बीच 'पोलैण्ड के गलियारा' नाम से प्रसिद्ध जर्मन भू-क्षेत्र दे दिया गया था। डांज़िग बंदरगाह पर इस गलियारे का दरवाज़ा खुलता था जिससे इस प्रसिद्ध जर्मन नगर को जर्मनी से पृथक कर राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया था। सत्तासीन होते ही हिटलर ने इस मांग को जोरदार तरीके से रखा कि पोलैण्ड गलियारा समाप्त कर डांज़िग का बंदरगाह उसे मिलना चाहिए। इस गलियारे एवं डॉज़िग के प्रश्नों पर हिटलर ने एक गंभीर अंतर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर दिया। इस स्थिति में ब्रिटेन एवं फ्रांस की तुष्टिकरण की नीति कमजोर हो गई। परिस्थितिवश ब्रिटेन एवं फ्रांस ने पोलैण्ड को इस बात की गारंटी दी कि यदि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करता है, तो उस स्थिति में पोलैण्ड को सहायता दी जाएगी। हिटलर चाहता था कि यदि युद्ध छिड़ता है तो सोवियत संघ कम से कम तटस्थ रहे। सोवियत संघ ने समय की आवश्यकता को देखते हुए 29 अगस्त, 1939 को जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण संधि की, जिसके अनुसार दोनों देशों ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ने का आश्वासन दिया। इसी परिस्थिति में हिटलर ने 1 सितबंर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और यूरोप की महाशक्तियाँ एक अन्य यूरोपीय युद्धों में फँस गई। यह स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध का द्योतक थी। इस तरह हिटलर की विदेश नीति जर्मनी की विस्तारवाद पर आधारित थी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-10

द्वितीय विश्वयुद्ध
(Second World War)

1 सितंबर, 1939 को जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण के साथ ही घटनाओं का वह सिलसिला शुरू हुआ, जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध को व्यापक आधार प्रदान किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध वर्साय संधि की कठोरता, विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, तानाशाही राजनीति, इंगलैंड की तुष्टिकरण की नीति, शस्त्रीकरण, शक्ति-संतुलन की गड़बड़ी आदि जैसे कुछ मूलभूत कारणों का समन्वित परिणाम था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद गंभीर आर्थिक समस्याओं एवं विषाक्त राजनीतिक परिदृश्य के रूप में उभरती चुनौतियों का सामना करने में अंतर्राष्ट्रीय संगठन 'राष्ट्रसंघ' सफल नहीं हो सका। संदेह एवं शक्ति-संतुलन की राजनीति में कोई भी देश एक-दूसरे के ऊपर विश्वास करने को किसी भी हालत में तैयार नहीं थे। संयोग से यूरोपीय राजनीति में इटली एवं जर्मनी में क्रमशः मुसोलिनी एवं हिटलर जैसे तानाशाही के अधीन सत्ता स्थापित हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बारे में एक धारणा जो प्रचलित है वह यह कि द्वितीय विश्वयुद्ध एक प्रतिशोधात्मक युद्ध था। इसमें कोई दो राय नहीं कि 1919 के पश्चात् विभिन्न यूरोपीय देशों में अधिनायक तंत्र अस्तित्व में आए, जो इस बात की पुष्टि करता है कि ये देश अपने अपमान का बदला लेने के लिए तैयार थे। इन सभी कारणों के समन्वित परिणाम से द्वितीय विश्वयुद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण *(Causes of Second World War)*

यह कहना बिल्कुल जायज है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज 1919 के पेरिस शांति समझौते में अंतर्निहित थे। इस सम्मेलन में जर्मनी के साथ अपमानजनक, कठोर एवं आरोपित वर्साय की संधि की गई थी और ये बात तो निश्चित ही थी कि जर्मनी इस कठोर शर्तों को लंबे समय तक नहीं खींच सकता था। शस्त्रों की होड़, उग्र राष्ट्रवादी भावनाएं एवं राष्ट्रसंघ की कमजोरी जैसे कुछ ऐसे निर्णायक कारक भी थे जिसने परिस्थिति को द्वितीय विश्वयुद्ध में परिवर्तित कर दिया।

इस विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

(i) **वर्साय संधि की त्रुटियाँ-** वर्साय की संधि में ही द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज निहित थे। पेरिस शांति संधि के समय यह बात खुलकर सामने आई कि वर्साय संधि द्वारा एक ऐसे विष वृक्ष का बीजारोपण किया जा रहा है जो कल को भयंकर विनाशलीला को दस्तक देगी एवं इसका फल समस्त मानव जगत को भुगतना पड़ेगा। वस्तुतः जर्मनी के साथ की गई वर्साय की संधि में वुडरो विल्सन के आदर्शवादी सिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पराजित जर्मनी के समक्ष आरोपित एवं कठोर संधि को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं था। इस स्थिति में जर्मनी के लिए यही बुद्धिमानी होती कि वह वर्साय संधि के इस कड़वे घूँट को पी जाए। गौरतलब है कि इस संधि ने जर्मनी को सैन्य एवं आर्थिक दृष्टिकोण से पंगु बना दिया। जर्मनी से अल्सास-लॉरेन के क्षेत्र एवं श्लेसविग के छोटे राज्य छीन लिए गए थे, पोलैण्ड गलियारा निर्मित कर पोलैंड का विच्छेद कर दिया गया था, उसे अपने सभी उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा, सार क्षेत्र के प्रसिद्ध खानों से 15 वर्षों के लिए वंचित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त जर्मनी को आर्थिक साधनों से वंचित कर उस पर क्षतिपूर्ति की भारी रकम थोप दी गई एवं उसे वसूलने के लिए कठोर साधन अपनाए गए। फ्राँस द्वारा जर्मनी के प्रसिद्ध 'रूर क्षेत्र' पर अधिकार कर लिया गया। इस रूर क्षेत्र में जर्मन जनता के साथ घोर अत्याचार किया गया। यद्यपि जर्मनी भीषण आर्थिक संकट से घिरा हुआ था, फिर भी क्षतिपूर्ति के मामलों में उस पर कोई दया नहीं दिखाई गई। जर्मनी पर निःशस्त्रीकरण जैसी कठोर शर्तें लाद दी गई तथा मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को यह आश्वासन दिया कि वे अपने आयुध भंडार में कमी करेंगे, हालाँकि इस दिशा में उनका प्रयास नगण्य रहा। इस तरह जर्मनी को हर दृष्टि से अपमानित करने का प्रयास किया गया। अतः यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह चुप रहकर इन अपमानों का सहन करता रहेगा। मित्रराष्ट्र भी इस बात को भलीभाँति समझते थे कि जैसे ही जर्मनी को मौका मिलेगा वह इस अपमान को धोने का प्रयास अवश्य करेगा। इसी संबंध में प्रसिद्ध फ्राँसीसी सेनापति मार्शल फॉच ने 1919 में ही यह कहा था कि, "वर्साय की संधि शांति की संधि नहीं, वरन् यह महज युद्धविराम संधि मात्र है।" इसी परिप्रेक्ष्य में जर्मनी में हिटलर जैसा योग्य नेता सामने आया और उसने जर्मनी को वर्साय संधि के अपमान से छुटकारा दिलाने का भरसक प्रयास किया। अंततः इसी प्रयास की परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में हुई।

(ii) **तुष्टिकरण की नीति-** सत्ता अधिग्रहण (1933) करने के बाद हिटलर ने उग्र विदेश नीति का अवलंबन किया तथा वर्साय संधि की एक-एक शर्तों को तोड़ना शुरू किया। जर्मनी में सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई एवं भारी मात्रा में अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कार्य शुरू हुआ। यह वर्साय की संधि का खुला उल्लंघन था। परन्तु, हिटलर के इस कारनामे पर कोई भी देश रोक लगाने की हिम्मत नहीं जुटा पाया और देखते ही देखते हिटलर ने वर्साय की संधि के एक-एक शर्तों को तोड़कर साम्राज्यवादी नीति का

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अवलंबन किया। वर्साय की संधि के द्वारा राइन क्षेत्र का असैनिकीकरण कर दिया गया था, परन्तु हिटलर ने बगैर इसका परवाह किए 1935 में इस क्षेत्र में सेना भेजकर उस पर अधिकार कर लिया एवं किलेबंदी का कार्य शुरू कर दिया। ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसी शक्तियाँ उसका विरोध नहीं कर सकीं और हिटलर का हौसला बढ़ता गया एवं 1938 में ऑस्ट्रिया का जर्मनी में विलय कर एक महान साम्राज्य की नींव डाली गई। अब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैंड का प्रश्न उठाया, जहाँ बहुसंख्यक आबादी जर्मन थी। हिटलर ने सुडेटनलैंड के प्रश्न को जोर-शोर से अंतर्राष्ट्रीय पटल पर उठाया तथा इस घटना ने यूरोपीय देशों में युद्ध जैसे गंभीर संकट की स्थिति पैदा कर दी। परन्तु, हिटलर ने बड़े ही कुशलतापूर्वक सुडेटनलैंड सहित लगभग संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया को हस्तगत कर लिया। ये तो रही जर्मनी की बात अब अन्य फासिस्ट शक्तियों द्वारा किए गए आक्रमक कार्यवाही को रोकने का भी कोई यथोचित प्रयास नहीं किया गया। 1931 में जापान अपने साम्राज्यवादी लिप्सा के तहत् मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। उक्त प्रश्न राष्ट्रसंघ के पास पहुँचने के बावजूद भी जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। इस तरह इटली द्वारा अबीसिनिया पर किए गए आक्रमण एवं अधिकार के विरोध में राष्ट्रसंघ में शिकायत दर्ज की गई परन्तु इसका भी कोई सार्थक परिणाम सामने नहीं आया। इस संबंध में हम कह सकते हैं कि यदि ब्रिटेन एवं फ्रांस जैसी शक्तियाँ राष्ट्रसंघ में प्रभावी भूमिका निभाती तो यह संभव था कि अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का वातावरण तैयार नहीं होता। इस तरह ये बात खुलकर सामने आ गई कि ब्रिटेन एवं फ्रांस ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत का खुलकर मजाक उड़ाया। अगर हम इस तथ्य पर विचार करें कि ब्रिटेन एवं फ्रांस ने तटस्थ अथवा तुष्टीकरण की नीति क्यों अपनाई? उक्त प्रश्नों का जवाब होगा कि 'इस तुष्टीकरण का सबल आधार यह था कि हिटलर एवं मुसोलिनी की कुछ शिकायतें दूर कर दी जाएं तो वे संतुष्ट हो जाएंगे एवं सभी समस्याओं का शांतिपूर्वक समाधान संभव हो सकेगा।' परन्तु, ब्रिटेन एवं फ्रांस जैसी शक्तियों की यह एक महान भूल थी कि हिटलर एवं मुसोलिनी की तृष्णा तथा अभिलाषाओं को शांत किया जा सकता है। वास्तव में ब्रिटेन एवं फ्रांस के नीति निर्धारक सोवियत साम्यवाद के विरुद्ध हिटलर एवं मुसोलिनी के आक्रामक उद्देश्यों को मोड़ना चाहता था। ये देश सोवियत साम्यवादी देश से भयभीत थे और यह इच्छा रखते थे कि साम्यवाद एवं फासिस्टवाद एक-दूसरे से लड़कर एक-दूसरे को बर्बाद कर दें। परंतु हिटलर एवं मुसोलिनी जैसे फासिस्ट शक्तियों का गुस्सा सोवियत संघ के विरुद्ध न उतरकर ब्रिटेन एवं फ्रांस समर्थित राष्ट्रों पर ही उतरा, विशेषकर जब हिटलर ने पोलैण्ड के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही कर द्वितीय विश्वयुद्ध को आरंभ किया।

(iii) **राष्ट्रसंघ की विफलता**- राष्ट्रसंघ की स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्धों के रोकथाम एवं परस्पर झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से निपटाकर विश्व शांति बनाए रखने के उद्देश्य से की गई थी। परन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि राष्ट्रसंघ अपने इस उद्देश्य को पूरा करने में विफल रहा। यह संगठन शीघ्र ही महाशक्तियों के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया, जो उसे स्वार्थ-साधने हेतु उपयोग में लाते थे। इस संगठन में अनेक दुर्बलताएं थीं- सर्वाधिक शक्तिशाली देश संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था। राष्ट्रसंघ के पास अपनी निजी सेना नहीं थी जिसके बल पर वह अपने निर्णयों को मनवा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी देशों ने उसकी अवहेलना शुरू की। जापान, जर्मनी एवं इटली जैसे देश राष्ट्रसंघ से अपना संबंध विच्छेद कर मनमानी करने लगे तथा राष्ट्रसंघ इस स्थिति में कुछ नहीं कर सका। इस तरह हम कह सकते हैं कि राष्ट्रसंघ की इस दुर्बल स्थिति ने द्वितीय विश्वयुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ निःशस्त्रीकरण के मुद्दों पर भी विफल रही। हालाँकि इसके लिए प्रयास तो हुए थे परन्तु परस्पर मतभेदों के कारण इस दिशा में कोई खास प्रगति नहीं हो पाई। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि शस्त्रास्त्रों की होड़ मच गई। संपूर्ण यूरोपीय देशों का राजनीतिक वातावरण इसकी होड़ में शामिल हो गया। फ्रांस जर्मनी से निरंतर भयभीत रहता था और इसी को ध्यान में रखकर उसने अपने सैन्य शक्ति में वृद्धि के लिए बढ़-चढ़कर प्रयास किया। फ्रांस ने अपनी सीमा पर 'मैगिनो लाइन' का निर्माण किया और बंकरों के निर्माण की गतिविधियाँ तीव्र की। इसके प्रतिक्रियास्वरूप जर्मनी ने भी 'मैगिनो लाइन' के समानान्तर किलों की श्रृंखला निर्मित की जिसे 'सीजफ्रेड लाइन' कहा गया। यह 'सीजफ्रेड लाइन' जर्मनी के पश्चिमी सीमा को मजबूत बनाने के उद्देश्य से की गई थी एवं यहाँ से वह फ्रांस पर आक्रमण करने में समर्थ होता। अत: विभिन्न देशों की इस सैन्य तैयारियों के कारण युद्ध का छिड़ना महज समय की बात रह गई थी।

(iv) **तात्कालिक कारण**- 1938 में हिटलर की आक्रामकता के फलस्वरूप यूरोप का वातावरण अत्यंत ही तनावपूर्ण हो गया था। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया के पतन के बाद यह समय की बात ही रह गई थी कि अब अगली बारी पोलैण्ड की है। ध्यातव्य है कि वर्साय की संधि के तहत् निर्मित 'पोलिश गलियारा' द्वारा जर्मनी का अंग विच्छेद कर दिया गया था एवं डान्जिग बंदरगाहका अंतर्राष्ट्रीयकरण कर उसे राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया था। जर्मन बहुल इस क्षेत्र की प्राप्ति हेतु हिटलर द्वारा यह माँग रखी गई कि ये क्षेत्र पुन: जर्मनी को दे दिए जाएँ। उसके इस माँग के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस स्थिति में ब्रिटेन एवं फ्रांस को अपनी तुष्टीकरण की नीति की असफलता का अहसास हुआ।

हालाँकि जर्मनी एवं पोलैण्ड के मध्य विवाद को सुलझाने का प्रयास किया गया लेकिन अंतत: 1 सितंबर, 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर द्वितीय विश्वयुद्ध का आगाज किया। 3 सितंबर को ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने की घोषणा के साथ ही सभी महान शक्तियाँ युद्ध में संलग्न हो गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

द्वितीय विश्वयुद्ध की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ *(Important Incidents of second world war)*

(i) **पोलैण्ड पर आक्रमण**- जर्मनी एवं रूस के मध्य पोलैण्ड को आपस में बांट लेने संबंधी समझौतों के फलस्वरूप । सितंबर 1939 को जर्मन सेना ने द्रुतगति से पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया एवं 27 सितंबर तक पोलैण्ड ने जर्मनी के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। अब जर्मनी एवं रूस ने इसे आपस में बांट लिया।

(ii) **रूसी प्रसार**- अपनी सुरक्षा हेतु रूस तीन बाल्टिक राज्यों यथा-इस्टोनिया, लाटविया एवं लिथुआनिया पर प्रभाव स्थापित करना चाहता था। इस संबंध में सितंबर-अक्टूबर (1939) में इन बाल्टिक देशों एवं सोवियत संघ के बीच पारस्परिक सहयोग की संधि हुई। इस संधि के फलस्वरूप सोवियत संघ को इन तीनों राष्ट्रों में सेना रखने की अनुमति मिल गई। इसके बदले में सोवियत संघ ने इन राष्ट्रों की प्रादेशिक अखंडता को बनाए रखने का पूर्ण आश्वासन दिया। परन्तु फिनलैंड के साथ रूस का संघर्ष हो गया। रूस अपनी सुरक्षा हेतु फिनलैंड पर भी बेहतर नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक समझता था। रूस की सैन्य कार्रवाई के फलस्वरूप फिनलैंड को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके पश्चात् होने वाली संधि के अनुसार, रूस को अपनी सुरक्षा से संबंधित सारी सुविधाएँ प्राप्त हो गई।

(iii) **नार्वे एवं डेनमार्क पर जर्मनी का आक्रमण**- जर्मनी मूलत: ब्रिटेन एवं फ्राँस पर आक्रमण करने के लिए नार्वे एवं डेनमार्क के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करना आवश्यक समझता था। समस्या यह थी कि अभी तक परंपरागत रूप से ये देश तटस्थ रहे थे। हिटलर ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए अप्रैल 1940 में नार्वे एवं डेनमार्क पर आक्रमण कर दिया। अंतत: नार्वे एवं डेनमार्क में नात्सी सरकार सत्तासीन हुई।

(iv) **हॉलैण्ड, बेल्जियम एवं लक्जमबर्ग पर जर्मन आक्रमण**- ये तीनों देश तटस्थ थे। परन्तु हिटलर ने इन तीनों देशों पर फ्राँस एवं ब्रिटेन को सहायता पहुँचाने का आरोप लगाया। इन्हीं आरोपों के आधार पर हिटलर ने अत्यंत ही द्रुतगति से इन पर आक्रमण कर इन्हें विजित कर लिया।

(v) **फ्राँस का पतन**- जून 1940 को जर्मनी एवं इटली ने फ्राँस पर आक्रमण कर दिया। फलत: फ्राँसीसी सत्ता ने इन दोनों के संयुक्त आक्रमण के दबाव में आत्मसमर्पण कर दिया। इसकी परिणति यह हुई कि नाजी सेना को स्वीट्जरलैण्ड के उत्तर-पश्चिम फ्राँस के संपूर्ण भू-भाग पर नियंत्रण स्थापित करने का अधिकार मिला। इतना ही नहीं फ्राँसीसी सेनाओं का नि:शस्त्रीकरण कर दिया गया। इस आक्रमण से इटली को भी लाभ हुआ तथा फ्राँस के कुछ भू-भाग इसे प्राप्त हो गये। जर्मनी के इस फ्राँसीसी विजय के फलस्वरूप ब्रिटेन में खलबली मच गई। इस स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने जनरल दी गॉल के नेतृत्व में गठित फ्राँसीसी सरकार को शीघ्र ही मान्यता दे दी और अब इसी नवगठित फ्राँसीसी सरकार ने फ्राँस के प्रतिनिधि के रूप में धुरी राष्ट्रों का सामना किया।

(vi) **ब्रिटेन पर जर्मनी का आक्रमण**- फ्राँस के आत्मसमर्पण के पश्चात् स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन की कठिनाइयाँ बढ़ गई। इसका कारण एक तो यह था कि संपूर्ण फ्राँसीसी युद्ध सामग्री जर्मनी के हाथों में आ गई थी एवं इस युद्ध सामग्री का प्रयोग ब्रिटेन के विरुद्ध होने की संभावना बढ़ गई थी। साथ ही, अमेरिका भी यूरोपीय तटस्थ देशों पर जर्मनी के आक्रमण से सशंकित हो गया था। अत: इस भय की स्थिति में अमेरिका ने ब्रिटेन को सहायता देनी शुरू कर दी। एक और महत्त्वपूर्ण बात जो सामने आई वह यह थी कि जर्मनी से पराजित होकर यूरोपीय देशों की सरकारें ब्रिटेन में जाकर जर्मनी के विरुद्ध अपने देशवासियों को भड़काती रहती थीं। यही कारण था कि हिटलर ब्रिटेन के इन कृत्यों से रूष्ट था। अंतत: हिटलर ने ब्रिटेन पर आक्रमण कर दिया, (जुलाई, 1940) परन्तु प्रबल ब्रिटिश प्रतिरोध के कारण ही हिटलर ने पूर्वी यूरोप पर अधिकार करने की यथेष्ट कोशिश की।

(vii) **नई यूरोपीय व्यवस्था**- सोवियत संघ पर हिटलर के आसन्न आक्रमण की योजना की एक कड़ी के रूप में इटली एवं जापान के साथ एक त्रिदलीय समझौता संपन्न हुआ। इस समझौते की मूल बातें ये थीं कि इन तीनों देशों ने अपने-अपने क्षेत्रों में एक-दूसरे का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। यही व्यवस्था यूरोप की नई व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध है। कालान्तर में इस व्यवस्था को बुल्गारिया, रूमानिया एवं यूगोस्लाविया को भी मानने हेतु बाध्य किया। अंतत: हिटलर ने यूनान को विजित कर जर्मन साम्राज्य में शामिल कर लिया।

(viii) **पश्चिमी एशिया में युद्ध**- प्राकृतिक संसाधन विशेष रूप से पेट्रोलियम पदार्थों से संपन्न पश्चिमी एशियाई क्षेत्र दोनों गुटों यथा मित्र राष्ट्र एवं धुरी राष्ट्र दोनों के लिए थे। जर्मनी एवं इटली ये दोनों देश तेल की आवश्यकता हेतु मूल रूप से इस क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए थे जबकि ब्रिटेन हेतु स्वेज नहर का महत्त्व जीवन रेखा के समान था। संयोगवश जर्मनी ने इराक में ब्रिटिश समर्थक सरकार को पदच्युत कर जर्मन समर्थक सरकार स्थापित की। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में ब्रिटिश सरकार ने सैन्य कार्रवाई कर इराक में पुन: ब्रिटिश समर्थक सरकार कायम की। इस घटना के पश्चात् ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया के विस्तृत भू-भाग के अंतर्गत फिलिस्तीन, ट्रांसजॉर्डन, इराक, सीरिया तथा लेबनान पर प्रभुत्व कायम कर लिया।

(ix) **रूस-जर्मनी संबंध**- यद्यपि अगस्त, 1939 को हुए मास्को संधि के तहत् रूस एवं जर्मनी एक-दूसरे के नजदीक आए, परन्तु रूस इस स्थिति से वाकिफ था कि जर्मनी का मूल उद्देश्य साम्यवादी सोवियत संघ को समूल नष्ट करना है। परन्तु दाव-पेंच

Copyright – Drishti The Vision Foundation

के बीच 1941 में सोवियत संघ एवं जापान के मध्य एक अनाक्रमण संधि हुई। संशय की इस स्थिति में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी एवं रूस के मध्य होने वाले इस युद्ध को हिटलर ने 'धर्मयुद्ध' की संज्ञा दी। इस युद्ध में इटली, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया आदि देश रूस के विरुद्ध शामिल हो गए। परन्तु सोवियत रूस ने दृढ़ता पूर्वक जर्मन आक्रमण का सामना किया। सोवियत रूस को इस गंभीर संकट से निजात दिलाने हेतु ब्रिटेन एवं अमेरिका तैयार हुए तथा रूस की सहायता हेतु ब्लाडीवोस्टक एवं फ्रांस के रास्ते का उपयोग करने की बात तय हुई। इस समय फ्रांस पर जर्मन प्रभाव कायम था। अतः इस स्थिति में ब्रिटेन एवं रूसी सेना ने मिलकर फ्रांस पर आक्रमण किया और अंततः उस पर अधिकार कर लिया। जर्मनी की सेना भी मास्को तक पहुँच गयी परन्तु रूसियों के आत्मविश्वास, जबर्दस्त ठंड का वातावरण एवं अमेरिकी सहायता के परिणामस्वरूप जर्मन सेना पीछे हटने को बाध्य हो गई।

(x) **पूर्वी एशियाई क्षेत्र में युद्ध**- इस क्षेत्र में युद्ध जापान एवं अमेरिका से संबंधित था। जापान द्वारा पूर्वी प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में स्थित पर्ल हॉर्बर (अमेरिका नौ सैनिक अड्डा) पर आक्रमण कर दिए जाने के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में युद्ध का आगाज हुआ। जापानी हमले के परिणामस्वरूप पर्ल हार्बर क्षेत्र के अनेक युद्धपोत नष्ट कर दिए गए। जापानी सेना अत्यंत ही तीव्र गति से सिंगापुर, हांगकांग, मलाया, बर्मा आदि पर अधिकार करते हुए बंगाल की खाड़ी तक पहुँच गई। जापानियों के इन प्रारंभिक उपलब्धियों के प्रतिक्रियास्वरूप अमेरिकी सेना ने भी कोरल समुद्री युद्ध एवं मिडवे द्वीप के युद्ध में जापानियों को पराजित किया।

(xi) **स्टालिनग्राड का युद्ध**- स्टालिनग्राड पर अधिकार स्थापित करने के उद्देश्य से हिटलर ने 1942 में इस क्षेत्र पर आक्रमण किया परन्तु सोवियत प्रतिरोध के कारण उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा और जर्मन सैनिकों को भारी तबाही का सामना करना पड़ा। इतना ही नहीं, स्टालिनग्राड के युद्ध में सोवियत संघ की इस सफलता के फलस्वरूप सोवियत संघ ने बाल्टिक क्षेत्र को नाजी अधिपत्य से मुक्त करते हुए बर्लिन पर कब्जा कर लिया। इस दुःखद स्थिति में हिटलर ने बर्लिन के एक बंकर में आत्महत्या कर ली।

(xii) **पश्चिमी मोर्चा**- यह विचार मूल रूप से स्टालिन का था। जब रूस पर जर्मनी का आक्रमण हुआ तो एक नए मोर्चे के रूप में पश्चिमी मोर्चा खोलने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। पूर्वी मोर्चे पर मित्रराष्ट्रों को जर्मनी की तरफ से जबर्दस्त दबाव पड़ रहा था। इस पश्चिमी मोर्चे ने मित्रराष्ट्रों को मजबूत आधार प्रदान किया क्योंकि इस मोर्चे के कारण जर्मनी को पश्चिमी मोर्चे पर भी मित्रराष्ट्रों का सामना करना पड़ा। पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों मोर्चे से बर्लिन पर आक्रमण किया गया। फलतः 2 मई, 1945 को जर्मनी को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इधर जापान पर भी मित्रराष्ट्रों का दबाव बढ़ने लगा। 6 अगस्त एवं 9 अगस्त 1945 को जापान के दो शहरों क्रमशः हिरोशिमा एवं नागासाकी पर अमेरिका द्वारा परमाणु बम गिराए गए। इस घटना के फलस्वरूप जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया।

अंततः हम कह सकते हैं कि हिटलर एवं मुसोलिनी की आक्रामकता, जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति आदि के परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारंभ 1 सितंबर, 1939 को हुआ, जिसकी समाप्ति 2 सितंबर, 1945 को जापान के आत्मसमर्पण के साथ हुई। यह एक भयंकर युद्ध था, जिसमें पहली बार परमाणु बम का उपयोग किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम *(Consequences of second world war)*

तुलनात्मक रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध का परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध से विस्तार एवं तीव्रता में अधिक व्यापक था। इस विश्वयुद्ध में भयंकर नरसंहारक हथियारों के रूप में परमाणु बम के प्रयोग ने तो एक तरह से मानव जीवन के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। इस युद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यूरोपीय शक्तियों का अवमूल्यन हो गया तथा अब विश्व शक्ति के प्रमुख नायक के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका का अस्तित्व कायम हुआ।

एक और भी नई बात सामने आई-युद्धोपरांत विश्व स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गया एवं शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हुई। गुटबंदी की इस स्थिति में नवस्वतंत्र तृतीय विश्व के देशों ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को जन्म दिया। अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं विकास को बढ़ावा देने हेतु अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था अस्तित्व में आई।

इस युद्ध के कई गंभीर परिणाम सामने आए जिसे निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-

(i) इस युद्ध के पश्चात् औपनिवेशिक साम्राज्यों का अन्त हो गया। विश्वयुद्ध में साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी शक्तियाँ कमजोर पड़ गईं। फलतः उनके उपनिवेशों में स्वतंत्रता आंदोलन ने जोर पकड़ लिया। ब्रिटेन ने अपनी विदेश नीति में परिवर्तन कर भारत, पाकिस्तान, बर्मा, मिस्र सहित अफ्रीका के कुछ देशों को स्वतंत्र कर दिया। फ्रांस ने भी हिंदचीन में अपने उपनिवेशों का अंत कर दिया। कंबोडिया, लाओस एवं वियतनाम जैसे देश स्वतंत्र हो गए। इसी तरह हॉलैंड ने भी अपने उपनिवेश को स्वतंत्र घोषित किया एवं हिंदेशिया नामक संघ अस्तित्व में आया, जिसमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि द्वीप शामिल थे। अतः हम कह सकते हैं कि एशिया के पुनरोत्थान की यह घटना परमाणु बम से भी अधिक विस्फोटक थी।

(ii) युद्धोपरान्त ग्रेट ब्रिटेन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया एवं अब वह विश्व नेता नहीं रह सका। अब सर्वत्र अमेरिका एवं रूस जैसे देशों ने अंतर्राष्ट्रीय जगत को नेतृत्व प्रदान किया। इस तरह द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से

Copyright – Drishti The Vision Foundation

यूरोप का महत्त्व कम हो गया। युद्धकाल में अमेरिकी औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हुई थी और उसने विश्व के अनेक देशों को कर्ज दिया था। समृद्ध आर्थिक स्थिति के कारण उसकी सैन्य शक्ति में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इसी क्रम में परमाणु बम का विकास हुआ एवं विश्व के अनेक भागों में मजबूत नौसैनिक अड्डे स्थापित हुए। इसी तरह एक अन्य शक्ति सोवियत संघ का भी अस्तित्व कायम हुआ। युद्ध पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अमेरिका एवं सोवियत रूस के रूप में जो दो महाशक्तियाँ उदित हुई वे दोनों अलग-अलग विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती थीं। एक तरफ अमेरिका पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था, वहीं सोवियत रूस साम्यवादी विचारों का। इन अलग-अलग विचारधारा वाले देशों के मध्य विभिन्न मुद्दों पर पर्याप्त मतभेद थे। यद्यपि इन दोनों के बीच मतभेद इतने चरम पर था कि युद्ध न होते हुए भी तनाव एवं वैमनस्य के रूप में आरोप-प्रत्यारोप और परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का संघर्ष आरंभ हुआ। यह संघर्ष आमतौर पर 'शीतयुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवाद के प्रसार से संबंधित मुद्दों पर पूर्वी जर्मनी, हंगरी, रूमानिया, लिथुआनिया आदि देशों का एक पृथक गुट बन गया। इस तरह समाजवादी प्रभाव में पूर्वी यूरोप का एक सोवियत समर्थक गुट बना, जबकि दूसरी तरफ पश्चिमी गुट के रूप में पूँजीवादी समर्थक देशों का एक गुट बना। अत: इन तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि संपूर्ण यूरोप दो गुटों में बंट गया तथा ये दोनों गुट अमेरिका एवं रूस के दिशा-निर्देशों से संचालित होने लगे।

(iii) 1945 में होने वाले माल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार, जर्मनी को चार भागों में विभाजित कर उसे अमेरिका, रूस, ब्रिटेन एवं फ्राँस के अधिकार क्षेत्र में शामिल कर दिया गया। यह व्यवस्था मूल रूप से जर्मनी को जनतांत्रिक स्वरूप प्रदान करने हेतु प्रदान की गयी। इस व्यवस्था ने 1949 में एक नवीन रूप धारण कर लिया जब अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्राँस के अधीन जर्मन क्षेत्र पश्चिमी जर्मनी के रूप में संगठित हुए। इस पश्चिमी जर्मन क्षेत्र में "जर्मन संघीय गणराज्य" स्थापित हुआ। इसी तरह अक्टूबर, 1949 को सोवियत संघ के प्रभाव वाले जर्मन क्षेत्र पूर्वी जर्मनी के रूप में संगठित हुए। पूर्वी जर्मनी का यह क्षेत्र "जर्मन जनतांत्रिक संघ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(iv) द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व शांति की स्थापना एवं विकास कार्यों में तेजी लाने के उद्देश्य से एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ अस्तित्व में आया। 1945 में सैन फ्रांसिस्को नामक सम्मेलन में इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गई मानवाधिकारों की प्रसिद्ध घोषणा के फलस्वरूप मानवाधिकार के युग की शुरुआत हुई।

(v) द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् कई प्रादेशिक संगठनों का विकास हुआ जैसे- साम्यवाद के प्रसार को रोकने हेतु पश्चिमी देशों ने अमेरिका के नेतृत्व में नाटो एवं सेंटो, सिएटो, बगदाद पैक्ट आदि जैसे सुरक्षात्मक संगठनों की स्थापना की। इसी तरह सोवियत संघ ने 'वारसा पैक्ट' नामक सुरक्षात्मक संगठनों की स्थापना की। इन विभिन्न प्रादेशिक संगठनों की स्थापना के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सैन्यवाद एवं शस्त्रीकरण की होड़ में तीव्र वृद्धि हुई तथा भय एवं तनाव का माहौल भी उत्पन्न हुआ।

(vi) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में जापानी सैन्य बलों ने दक्षिण-पूर्व एशिया में अंग्रेजी फौज के जिन भारतीय सैनिकों को युद्धबन्दी बनाया था उन्हें सुभाष चन्द्र बोस जैसे महान स्वतंत्रता सेनानी ने संगठित कर 'आजाद हिन्द फौज' नामक प्रसिद्ध दस्ते का निर्माण किया था। आजाद हिन्द फौज की सहायता से भारत में ब्रिटिश सत्ता को कड़ी चुनौती दी गई थी। अत: द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात भारत में भी व्यापक हलचल देखी गई, जिसके परिणामस्वरूप भारत को स्वतंत्रता संभव हो पाई।

(vii) द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप राष्ट्रवादियों एवं कम्युनिस्टों के मध्य तनाव एवं संघर्ष तीव्र हो गया। इस संबंध में हम कह सकते हैं कि जापान द्वारा आत्मसमर्पण के पश्चात् कम्युनिस्टों ने माओत्से तुंग के नेतृत्व में चीनी सत्ता पर नियंत्रण कर लिया।

(viii) द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप इजरायल का निर्माण एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् यहूदियों ने फिलिस्तीन में बसना आरंभ किया। संसार के विभिन्न क्षेत्रों से भारी संख्या में यहूदियों का आगमन इन क्षेत्रों में हुआ। इस क्षेत्र में यहूदियों के आगमन ने नई समस्यायों को जन्म दिया। अरबों एवं यहूदियों के बीच व्यापक दंगे होने लगे। इतना ही नहीं ब्रिटेन एवं अमेरिका के समर्थन से 1940 में इजरायल नाम से फिलिस्तीन में यहूदियों का राज्य कायम हो गया उसी समय से इजरायल एवं अरबों के मध्य तनाव एवं संघर्ष का अनवरत सिलसिला शुरू हुआ।

(ix) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में सामरिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक एवं तकनीकी खोज को पर्याप्त बढ़ावा मिला। विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले इस आशातीत प्रगति के रूप में जेट विमान, रडार, रेडियो, टेलीविजन आदि जैसे साधनों के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इन क्षेत्रों में व्यापक पूँजी निवेश किया गया। युद्धकाल में प्लास्टिक, रेयान, हल्की मिश्र धातु, चमत्कारिक औषधियाँ आदि जैसे कृत्रिम पदार्थों का निर्माण महान उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-11

1949 की चीनी क्रांति

(The Chinese Revolution of 1949)

****(इस टॉपिक का संबंध मुख्य परीक्षा प्रश्नपत्र-I के टॉपिक 5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)*

चीनी जनता में तत्कालीन मंचू राजवंश के प्रति असंतोष एवं विरोध की भावनाओं ने जड़ पकड़ ली थी। यह बात लोगों के सामने स्पष्ट रूप से आ चुकी थी कि विदेशी शोषण एवं देश की तत्कालीन समस्याओं के लिए मंचू सरकार ही दोषी है। मंचू सरकार की कमजोरी का ही प्रतिफल था कि चीन को चीन-जापान युद्ध एवं बॉक्सर विद्रोह के मौके पर विदेशी शक्तियों के समक्ष झुकना पड़ा था। यद्यपि औपचारिक दृष्टि से चीन किसी विदेशी शक्ति का उपनिवेश नहीं था, परन्तु इसके बावजूद भी इसकी स्थिति किसी दूसरे परतंत्र देश से बेहतर नहीं थी। चीन में विभिन्न विदेशी शक्तियों द्वारा व्यापक लूट-खसोट का दौर चल रहा था। तत्कालीन चीनी सरकार पर दबाव डालकर विभिन्न देशों ने अपने हितों में कई रियायतें प्राप्त कर लिये थे। इन रियायतों की आड़ में ही इन विदेशियों द्वारा शोषण का सिलसिला प्रारंभ हुआ। ब्रिटेन ने अपने स्वार्थों की रक्षा हेतु चीन में अफीम के सेवन को पर्याप्त रूप से बढ़ा दिया तथा इस आधार पर चीनियों का भरपूर उत्पीड़न किया गया। इन शोषणकारी व्यवस्थाओं के विरुद्ध जनमानस में आक्रोश की भावना का विकास हुआ तथा इसी परिप्रेक्ष्य में 1911 ई. की चीनी क्रांति का सूत्रपात हुआ। इस क्रांति का स्वरूप मुख्य रूप से सांस्कृतिक था तथा इसमें डॉ. सनयात् सेन की मुख्य भूमिका रही थी। सनयात सेन के ही प्रयत्नों से 'राष्ट्रवादी चीनी पार्टी' की स्थापना हुई, जिसे "कोमिन्तांग" के नाम से जाना जाता है।

1911 की चीनी क्रांति के बाद मंचू राजवंश का अंत हो गया एवं गणतांत्रिक शासन स्थापित किया गया। इस शासन व्यवस्था के तहत् युआन-शी-काई ने अस्थायी राष्ट्रपति का कार्यभार संभाला। वह कोमिन्तांग दल को अपना सबसे प्रबल विरोधी मानता था। इसी बात को ध्यान में रखकर उसने इस दल पर कई प्रतिबंध लगा दिए और 1913 में कोमिन्तांग दल को गैरकानूनी भी घोषित कर दिया। इस तरह से कुछ समय के लिए चीन से कोमिन्तांग दल का प्रभाव खत्म हो गया। युआन-शी-काई पुनः मंचू सरकार की तर्ज पर निरंकुश सत्ता कायम करना चाहता था। 1916 ई. में युआन-शी-काई की मृत्यु के पश्चात् चीन में पुनः अराजकता का राज कायम हो गया। इस स्थिति में डॉ. सनयात सेन ने दक्षिणी चीन में कैंटन को राजधानी के रूप में स्थापित कर वहाँ कोमिन्तांग दल की सरकार को संगठित किया। कैंटन की इस सरकार ने स्वयं को चीन का असली सरकार घोषित किया, यद्यपि उसका आधिपत्य दक्षिणी चीन तक ही सीमित था। 1921 ई. में डॉ. सनयात सेन कैंटन की सरकार में राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। 1923 ई. में उन्होंने रूसी साम्यवादी सरकार के साथ परस्पर सहयोगात्मक संधि कर गणतांत्रिक सरकार बनाने का प्रयास किया। लेकिन 1925 में सनयात सेन की मृत्यु हो जाने के कारण उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। सनयात सेन के उत्तराधिकारी के रूप में च्यांग-काई शेक को चीन के साम्यवादी दल के साथ गृहयुद्ध में फँसना पड़ा, जिसकी समाप्ति माओत्से तुंग के नेतृत्व में 1 अक्टूबर, 1949 को चीनी लोक गणराज्य की स्थापना के साथ हो पाई।

चीनी क्रांति की परिस्थितियाँ *(Circumstances for Chinese Revolution)*

रूस में 1917 में हुई बोल्शेविक क्रांति का व्यापक असर चीन की तत्कालीन राजनीति पर भी पड़ा। 1919 में रूसी साम्यवाद एवं मार्क्सवाद के प्रभावस्वरूप चीनी साम्यवादी दल (कुंगचांगतांग) की स्थापना के साथ ही कैंटन, शंघाई एवं हुनान प्रांतों में कम्युनिस्ट पार्टी की शाखाएँ अस्तित्व में आईं। 1921 में इन सभी कम्युनिस्ट शाखाओं का शंघाई में प्रथम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में चीन से विदेशी घुसपैठियों को निष्कासित करना मुख्य लक्ष्य तय किया गया। इन साम्यवादी गतिविधियों में माओत्से तुंग जैसे व्यक्ति काफी सक्रिय थे, जो कालान्तर में चीनी साम्यवादी दल के नेता बने। साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव चीन के उदार राष्ट्रवादियों पर भी पड़ा, जिसमें सनयात सेन भी अग्रणी लोगों में से एक थे। सनयात सेन चीन को एक महान शक्ति के रूप में संगठित करने हेतु विदेशी सहायता प्राप्त करना नितांत आवश्यक मानते थे और उनकी नजर में ये बात निश्चित थी कि पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियाँ कभी भी उनकी मदद नहीं करेंगी। इसी समय रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति के फलस्वरूप लेनिन के नेतृत्व में सत्ता में आई साम्यवादी सरकार ने चीन के राष्ट्रवादी नेता सनयात सेन को सहायता का वचन दिया, क्योंकि रूस साम्यवाद को प्रसारित करना चाहता था। इन सब प्रयासों का समन्वित परिणाम यह था कि चीन के राष्ट्रवादी सनयात सेन के कोमिन्तांग एवं चीनी साम्यवादी दल में सहयोगपूर्ण संबंध स्थापित हुए। यह संबंध रूसी साम्यवादी विचारकों के निर्देशों पर ही स्थापित हुए थे। ये दोनों दल आपस में समन्वय कर साम्राज्यवाद के विरुद्ध कार्य करने लगे। सनयात सेन की दूरदर्शिता एवं सूझबूझ का ही परिणाम था कि कोमिन्तांग एवं चीनी साम्यवादी दल में सौहार्द्रपूर्ण संबंध बने रहे, परन्तु मार्च 1925 में सनयात सेन की मृत्यु के बाद दोनों दलों की ये एकता टूटने लगी।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

चीनी साम्यवादी दल ने अपने संगठन को मजबूत आधार प्रदान करने हेतु किसानों एवं मजदूरों को अपने पक्ष में किया तथा किसान एवं मजदूर के हितों के संरक्षण में कृषक एवं मजदूर संघ की स्थापना की गई। इतना ही नहीं, इन विभिन्न कृषक एवं मजदूर संघों द्वारा अपनी मांग को दृढ़तापूर्वक मनवाने हेतु हड़ताल, लगान की कमी तथा जमींदारी उन्मूलन के संबंध में गंभीर प्रयास किए गए। 1925 में माओत्से तुंग के नेतृत्व में हुनान प्रांत में उग्र किसान आंदोलन हुआ तथा जमींदारी सत्ता को समाप्त करके उसकी संपत्ति को जब्त कर समाज में साम्यवादी विचारधारा की तीव्रता का उदाहरण प्रस्तुत किया गया।

सनयात सेन की मृत्यु के बाद च्यांग काई शेक ने कोमिन्तांग दल का नेतृत्व संभाला। वह मूलत: जमींदारों एवं उद्योगपतियों/व्यवसायियों के प्रति सद्भावनापूर्ण बर्ताव रखता था जबकि साम्यवादी दल की कार्य सूची में किसान एवं मजदूरों का हित ही सर्वोपरि था। अत: इन मुद्दों पर उक्त दोनों दलों में टकराहट होने लगी। इसी परिप्रेक्ष्य में साम्यवादियों को कोमिन्तांग दल से निकाल दिया गया। राष्ट्रीय एकता कायम करने के उद्देश्य से च्यांग कोई शेक ने उत्तरी चीन के हैंको, नानकिंग एवं शंघाई पर आधिपत्य स्थापित किया। कोमिन्तांग सेना की इस विजय के पश्चात् नानकिंग को कोमिन्तांग सरकार की राजधानी बनाई गई। कम्युनिस्ट की बढ़ती शक्ति से घबराकर च्यांग काई शेक ने उस पर अंकुश लगाने का यथेष्ट प्रयास किया। इस क्रम में बड़े पैमाने पर कम्युनिस्ट, ट्रेड यूनियनिस्ट एवं किसान नेता मारे गए। उधर चीनी साम्यवादी दल ने मोओत्से-तुंग के नेतृत्व में अपनी शक्ति का विस्तार किया तथा कियांगसी प्रांत को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाया। साम्यवादी शीर्ष नेता के रूप में माओ की रणनीति औद्योगिक मजदूरों की तुलना में किसानों पर विशेष रूप से केन्द्रित थी। एक विशेष बात यह भी थी कि कियांगसी प्रांत की कम्युनिस्ट सरकार एवं नानकिंग की कोमिन्तांग सरकार एक दूसरे को मान्यता नहीं देती थी। कोमिन्तांग सत्ता एवं चीनी साम्यवादी सत्ता के बीच इतना अधिक मनमुटाव हो गया कि वे दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी बन बैठे। इस संबंध में च्यांग काई शेक द्वारा कियांगसी की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध व्यापक उन्मूलन अभियान चलाया गया। इस अभियान के दबाव में आकर चीनी साम्यवादी सरकार कियांगसी से शेनसी प्रांत के येनान नगर में स्थानांतरित हो गई। चीन के उक्त दोनों दलों में सहयोग की भावना पुन: प्रकट हुई जब चीन पर जापानी आक्रमण हुआ। जापानी आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने हेतु साम्यवादियों द्वारा कोमिन्तांग सरकार से एकता का आह्वान किया गया और इसका परिणाम यह हुआ कि चीन ने जापानी हमलों का डटकर मुकाबला कर उसे पराजित भी किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा च्यांग काई शेक की मदद हेतु भारी मात्रा में सैन्य सामग्री भेजा गया। इस संबंध में अमेरिका हो या ब्रिटेन दोनों घोर साम्यवादी विचारधारा का विरोधी था। जापान द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में नानकिंग क्षेत्र पर अधिपत्य स्थापित हो जाने के पश्चात् च्यांग-काई-शेक ने चुंगकिंग में कोमिन्तांग सत्ता कायम की परन्तु 1945 में जापान के आत्मसमर्पन के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् कोमिन्तांग एवं चीनी साम्यवादी दल सत्ता के लिए अंतिम संघर्ष में उलझ गए। अमेरिका ने कोमिन्तांग सरकार को जापान द्वारा जीते गए सभी क्षेत्रों पर अधिकार दिलाया परन्तु मंचूरिया का क्षेत्र रूस के कब्जे में था। इस क्षेत्र में कोमिन्तांग सैनिकों के आने पर पाबंदी एवं साम्यवादी छापामारों को आने की अनुमति दे दी गई। 1948 तक साम्यवादी सेना ने विशाल सेना का रूप धारण कर लिया था। इस साम्यवादी सेना के दबाव में आकर च्यांग काई शेक की कोमिन्तांग सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। जनवरी, 1949 में पेकिंग पर साम्यवादियों का कब्जा हो गया एवं कालांतर में नानकिंग, शंघाई, हैंको एवं कैंटन पर भी साम्यवादियों ने परचम लहराया। इस स्थिति में 1 अक्टूबर, 1949 को साम्यवादियों ने पेकिंग में 'लोक गणराज्य' की घोषणा की और माओत्से तुंग के नेतृत्व में चीन की साम्यवादी दल सत्ता में आई जिसे सोवियत रूस जैसे देश ने मान्यता दे दी। इस रूप में चीन में साम्यवादी क्रांति सफल रही। च्यांग काई शेक की कोमिन्तांग सरकार चीन की मुख्य भूमि छोड़कर फारमोसा (ताइवान) चला गया। यद्यपि यह चीन का ही एक द्वीप था जिसे 1895 में जापान ने चीन को हराकर इस पर अधिकार कर लिया था। इस संबंध में अमेरिका द्वारा फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी सरकार को ही चीन के सरकार के रूप में मान्यता दी गई। हम कह सकते हैं कि चीनी लोक गणराज्य की स्थापना अमेरिका की हार थी। उसने दो दशकों तक चीन की सरकार को मान्यता नहीं दी। अमेरिका के इसी रूख के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को लंबे समय तक सदस्यता नहीं मिल सकी।

चीनी क्रांति के परिणाम *(Consequences of the Chinese Revolution)*

चीन में साम्यवादी क्रांति की विजय संसार की एक महान घटना मानी जाती है। यूरोप के समाजवादी देशों के अतिरिक्त अब विश्व की दो प्रमुख शक्तियाँ-सोवियत संघ एवं चीन पर साम्यवादी शासन स्थापित हुआ।

चीन की क्रांति के फलस्वरूप एशिया में साम्राज्यवाद और भी कमजोर हुआ। माओवादी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष ने उपनिवेशवाद विरोधी साम्राज्यवाद के उन्मूलन हेतु सक्रिय लोगों के सामने एक आकर्षक विकल्प प्रस्तुत किया। तीसरी दुनिया के समक्ष 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माओवाद को एक बेहतर विकल्प के रूप में देखा जाने लगा।

चीनी साम्यवादी क्रांति की सफलता के परिणामस्वरूप साम्यवादियों ने तिब्बत में एक सफल सैनिक अभियान का संचालन किया। तिब्बत के इस सैन्य अभियान के फलस्वरूप भारत के साथ उसके संबंधों में तनाव आ गया क्योंकि मानवीय आधार पर भारत सरकार तिब्बत की लामा सरकार को शरण दी हुई थी। यद्यपि लंबे अर्से तक भारत-चीन संबंध मधुर बने रहे, परन्तु 1960 के दशक में चीनी विदेश नीति में आए परिवर्तन तथा 1962 में भारत-चीन लड़ाई के परिणामस्वरूप दोनों देशों के संबंधों में खटास उत्पन्न हुई।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596; (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-12

शीत युद्ध *(The Cold War)*

****(इस टॉपिक का संबंध मुख्य परीक्षा प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)*

युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम था। शीत युद्ध में हथियारों द्वारा प्रत्यक्ष विजय के विपरीत अन्य क्रियाकलापों और उपायों से प्रभुत्व विस्तार की नीति अपनायी जाती है। शीत युद्ध मूलत: राष्ट्रों के मध्य व्याप्त तनाव की एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जिसमें दोनों पक्ष परस्पर शांतिकालीन कूटनीतिक संबंध बनाए रखते हुए भी शत्रुता की भावना रखते हैं। इस युद्ध में अपने पक्ष को प्रबल बनाने के लिए प्रचार-प्रसार, गुप्तचरों एवं षड्यंत्रों का सहारा लिया जाता है। अर्थात् यह प्रत्यक्षत: आमने-सामने किसी युद्ध के बिना एक वैचारिक संघर्ष, राजनीतिक अविश्वास, कूटनीतिक चालों, सैन्य प्रतियोगिता, गुप्तचर्या एवं मनोवैज्ञानिक संघर्ष की प्रक्रिया को इंगित करता है। शीत युद्ध शब्द का प्रयोग उस गहन विद्वेष एवं तनाव को संबोधित करने के लिए किया जाता है जो सोवियत-अमेरिका संबंधों में द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विकसित हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो गई थी कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नवीन युग का प्रारंभ हो रहा था। तत्कालीन राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उभरती हुई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मूलभूत विशेषता थी- यूरोपीय कोर क्षेत्र के बाहर अनेक प्रभुत्वसंपन्न राज्यों में शक्ति का वितरण जो दो महाशक्तियों- सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा नियंत्रित थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व राजनीति में पुराने शक्ति-संतुलन का विध्वंस हुआ एवं विश्व में केवल अमेरिका तथा रूस नामक प्रथम श्रेणी की महाशक्तियाँ रह गयी थीं। युद्ध काल में इन दोनों महाशक्तियों ने मित्रराष्ट्रों के साथ मिलकर नाजीवाद एवं फासीवाद को समाप्त करने में सहयोग किया था। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व शांति, सुरक्षा एवं सहयोग के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया और संपूर्ण मानवता में यह संदेश गया कि उन्हें अब शांति एवं सुरक्षा तथा विकास की गारंटी मिल गई है। परन्तु ऐसी आशा करना निर्मूल साबित हुआ। युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों में शांति एवं सुरक्षा में सहयोग करने के स्थान पर द्वेष, ईर्ष्या, वैमनस्य एवं शक्ति के लिए शत्रुतापूर्ण प्रतियोगिता आरंभ हो गई। वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस के मध्य गहरा मतभेद द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम चरण में ही उत्पन्न हो गया था। युद्ध समाप्ति के पश्चात् तो मैत्री की सभी संभावनाएँ समाप्त हो गईं। दोनों महाशक्तियों में तीव्र तनाव एवं मतभेदों की विषय परिस्थिति सामने आई। दोनों के मध्य आरोपों- प्रत्यारोपों का भीषण दौर चला। यही स्थिति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध के नाम से जानी जाती है। दोनों गुट एक-दूसरे को कूटनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि मोर्चों पर पराजित करने में जुट गए। इस प्रकार संपूर्ण विश्व में एक प्रकार का भय, संदेह एवं तनाव का वातावरण बन गया। फलत: विश्व में एक बार पुन: अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गई।

शीत युद्ध के कारण *(Causes of the Cold War)*

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ के रूप में दो महाशक्तियाँ उभरकर सामने आईं। ये दोनों महाशक्तियाँ युद्ध से प्राप्त लाभों को अपने-अपने पक्ष में करना चाहती थीं एवं अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करना चाहती थीं। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक-दूसरे को बाधक समझती थीं। इस शीत युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

(i) ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शीत युद्ध का कारण 1917 की बोल्शेविक क्रांति में दिखाई देता है। 1917 की बोल्शेविक क्रांति के समय से ही पश्चिमी राष्ट्र सोवियत रूस को समाप्त करने का प्रयास कर रहे थे क्योंकि साम्यवाद एक विश्वव्यापी आंदोलन के रूप में प्रस्तुत हुआ था जिसका अंतिम उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त कर संपूर्ण विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना था। ये पश्चिमी देश साम्यवादी रूस को जर्मनी की अपेक्षा अधिक शक की दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि पश्चिमी देश हिटलर को सोवियत रूस पर आक्रमण करने हेतु प्रेरित करते रहे।

(ii) 1945 में माल्टा सम्मेलन में रूजवेल्ट, स्टालिन एवं चर्चिल के बीच संपन्न समझौतों के तहत् पोलैण्ड में सोवियत संघ द्वारा संरक्षित 'लुबनिन शासन' एवं पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लंदन शासन' के स्थान पर स्वतंत्र तथा निष्पक्ष निर्वाचन पद्धति के माध्यम से एक प्रतिनिधि शासन स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया था। परन्तु, युद्ध का अंत निकट आते ही स्टालिन ने अपनी वचनबद्धता भंग कर दी एवं अमेरिका तथा ब्रिटिश प्रेक्षकों को पोलैण्ड आने की अनुमति नहीं दी। हंगरी, बुल्गारिया, रोमानिया एवं चेकोस्लोवाकिया में भी सोवियत संघ द्वारा युद्ध विराम समझौतों एवं याल्टा समझौतों का उल्लंघन किया गया। इतना ही नहीं, सोवियत संघ द्वारा इन सभी देशों में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना करने हेतु मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इनकार कर

Copyright – Drishti The Vision Foundation

दिया गया एवं सोवियत संघ समर्थित सरकारें स्थापित कर दी गईं। सोवियत संघ द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने की अनिच्छा एवं उसके द्वारा मित्रराष्ट्रों को साइबेरियाई क्षेत्र में सैन्य युद्धों की सुविधा दिए जाने में हिचकिचाहट से भी सोवियत संघ के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों में संदेह उत्पन्न हुआ।

(iii) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में जब हिटलर ने सोवियत संघ को भारी नुकसान पहुँचाया तो स्टालिन ने मित्रराष्ट्रों से अपील की कि नाजी शक्तियों के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाये ताकि सोवियत रूस पर दबाव कम हो सके। परन्तु, स्टालिन की इस अपील को रूजवेल्ट एवं चर्चिल द्वारा लंबे समय तक टाला गया। अतः सोवियत रूस में इसका यही संदेश गया कि यह देरी अमेरिका एवं ब्रिटेन की इस व्यवस्थित योजना का परिणाम थी कि नाजी जर्मनी साम्यवादी शक्ति रूस को पूर्णतः कुचल दे।

(iv) सोवियत संघ ने अक्टूबर, 1944 में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन को स्वीकार कर लिया, जिसमें यह निर्धारित किया गया था कि सोवियत संघ का बुल्गारिया एवं रोमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाये तथा यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाये, जबकि हंगरी एवं युगोस्लाविया में सोवियत रूस एवं ब्रिटेन दोनों का ही बराबर प्रभाव माना जाये। परन्तु, स्थिति तब गंभीर होने लगी जब युद्ध समाप्ति के पश्चात् इन देशों में बाल्कन समझौते को नजरअंदाज करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी पार्टियों को मुक्त सहायता दी एवं वहाँ 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करा दी गई। इस स्थिति में सोवियत संघ के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों में नाराजगी लाजिमी थी।

(v) शीत युद्ध का एक प्रमुख कारण जर्मनी का विभाजन तथा सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी को चार अधिकृत क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया जिसे क्रमशः सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्राँस के कब्जे में रखा गया। बर्लिन को संयुक्त नियंत्रण में रखा गया। जर्मनी के पश्चिमी क्षेत्रों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिस पर अमेरिका का व्यापक प्रभाव था। वहीं दूसरी ओर पूर्वी जर्मनी में साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित हुई एवं इस पर सोवियत संघ का प्रभुत्व कायम हुआ। अर्थात् जर्मनी दो विरोधी खेमे में बंट गया। इस बदली हुई स्थिति का परिणाम यह हुआ कि इन महाशक्तियों के मध्य तीव्र तनाव बढ़ा। इतना ही नहीं, 1948 के लंदन प्रोटोकाल का उल्लंघन करते हुए सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबंदी कर दी। इससे पश्चिमी देश असंतुष्ट हुए एवं शीत युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई।

(vi) सोवियत संघ ने तुर्की पर अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी क्रम में उसने कुछ भू-भाग एवं बास्फोरस में नौ सैनिक अड्डा का अधिकार जताने के लिए तुर्की पर दबाव देने लगा, परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसके पक्ष में नहीं थे। यह विवादपूर्ण स्थिति शीत युद्ध को भड़काने हेतु पर्याप्त थी।

(vii) प्रसिद्ध फुल्टन भाषण में चर्चिल ने मार्च, 1946 में इस बात को रेखांकित किया था कि हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर दूसरे स्वरूप की संस्थापना रोकनर चाहिए। उसका यह सुझाव भी था कि साम्यवाद के प्रभाव को सीमित करने के लिए किसी भी माध्यम को अपनाया जाना चाहिए- नैतिक या अनैतिक। इस भाषण के बाद संपूर्ण अमेरिका में सोवियत विरोधी भावनाएँ चरम पर पहुँच गईं।

(viii) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से ईरान पर अधिकार स्थापित कर लिया था। युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश-अमेरिकी सेना ईरान से हटा ली गई जबकि सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इनकार कर दिया। हालाँकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के दबाव में आकर सोवियत संघ ने अपनी सेना हटा ली परन्तु इसमें कोई भी दो राय नहीं कि सोवियत रूस के इस व्यवहार से पश्चिमी शक्तियों की शंका में वृद्धि हुई।

(ix) अमेरिका द्वारा जापान के विरुद्ध किए गए परमाणु बम के प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि अमेरिका ने गुप्त रूप से इस विनाशक बम का निर्माण किया था जिसकी सूचना रूस को नहीं थी जबकि कनाडा एवं ब्रिटेन इस स्थिति से वाकिफ था। अतः अमेरिका के प्रति रूसी मित्रताभाव में दरार आ गई। अतः हम कह सकते हैं कि अमेरिका द्वारा किए गए परमाणु बम के प्रयोग ने न सिर्फ हिरोशिमा एवं नागासकी को बर्बाद किया वरन् युद्धकालीन मित्र राष्ट्रों की मित्रता को भी कमजोर कर दिया।

(x) सोवियत संघ द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपने वीटो शक्ति का अधिकाधिक प्रयोग यह सोचकर किया जाता था कि शांति, सुरक्षा एवं विकास के नाम पर संयुक्त राष्ट्र संघ अमेरिकी विदेश नीति का एक अभिन्न अंग है। सोवियत संघ के मन में अपनी इस शंका तथा उसके अनुरूप किए गए प्रतिक्रिया वाली वीटो की नीतियों के आधार पर पश्चिमी राष्ट्रों ने आलोचना करनी शुरू कर दी। फलतः इस स्थिति ने शीत युद्ध को विशेष रूप से प्रभावित किया। लैंड लीज एक्ट के तहत् सोवियत संघ को द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में मिलने वाली अमेरिकी आंशिक आर्थिक सहायता युद्ध के बाद बन्द कर दी गई, जिसके परिणामस्वरूप भी दोनों शक्तियों में तनाव में वृद्धि हुई। इस तरह इस शीत युद्ध को महज शक्ति संतुलन का नवीन संस्करण माना जा सकता है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अस्तित्व में आए दो महाशक्तियों अमेरिका एवं रूस अर्थात् पूंजीवादी एवं समाजवादी शक्तियों के मध्य का शक्ति-संतुलन था।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

शीत युद्ध की प्रगति एवं विस्तार *(Progress in Cold War and Its Expansion)*

पूंजीवादी एवं साम्यवादी शक्तियों का यह शीत युद्ध 1917 से 1989 के बीच विभिन्न चरणों से गुजरते हुए सोवियत संघ के विघटन तक चला जब विश्व की एक ध्रुवीय सत्ता का केन्द्र संयुक्त राज्य अमेरिका के रूप में स्थापित हुआ। शीत युद्ध के दौर को हम निम्नलिखित चरणों में देख सकते हैं-

प्रथम चरण-1917-45 *(First Phase – 1917-45)*

शीत युद्ध के प्रथम चरण की शुरुआत मूलत: रूस में 1917 में सफल बोल्शेविक क्रांति से मानी जाती है। इस क्रांति ने एक नवीन विचारधारा के रूप में साम्यवाद को स्थापित किया। इसके साथ ही विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में शीत युद्ध आरंभ हुआ। रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना पर पूंजीवादी राज्यों ने एक तरह से आपत्ति जताई और इस रूप में विश्व दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं अथवा गुटों में विभक्त हो गया। यह शीत युद्ध का शुरुआती दौर था एवं यह अपने उग्र रूप में इसलिए नहीं आ पाया कि इस समय तक सोवियत संघ एक सबल राष्ट्र के रूप में स्थापित नहीं हुआ था जबकि ब्रिटेन, अमेरिका आदि सबल देश थे। हालाँकि 1924 में ब्रिटेन एवं 1933 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस को मान्यता दे दी परन्तु इसके बावजूद भी रूस अपेक्षाकृत निर्बल ही रहा।

द्वितीय चरण-1946-53 *(Second Phase – 1946-53)*

इस चरण में शीत युद्ध का स्पष्ट रूप सामने आया। यह स्थिति तब आई जब सोवियत संघ एवं पश्चिमी राष्ट्रों के मध्य संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के विभिन्न विषयों पर व्यापक वाद-विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष का अनवरत सिलसिला शुरू हुआ। इस अवधि में घटित कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने शीत युद्ध के लिए उत्प्रेरक का काम किया। ये घटनाएँ निम्नलिखित थीं-

(क) चर्चिल का फुल्टन भाषण- ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने अमेरिका के फुल्टन नगर में मार्च 1946 में अपने भाषण में ज़ोर देकर कहा कि सोवियत संघ ने यूरोप में पूर्व एवं पश्चिम के बीच एक प्रकार का लौह आवरण लगा दिया है जिसका कारण यह है कि सोवियत वर्चस्व वाले देशों की घटनाओं का विश्व के अन्य देशों को कोई जानकारी नहीं मिल सके और साथ ही सोवियत वर्चस्व वाले देशों की जनता विश्व की घटनाओं से अनभिज्ञ बनी रहे। उसने इस बात को रेखांकित किया था कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की संस्थापना रोकनी चाहिए।" चर्चिल के इस भाषण में विशेष रूप से सोवियत कार्यवाही को लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता हेतु गंभीर खतरा बताया गया। अत: इस संभावित खतरे का सामना करने हेतु आंग्ल-अमेरिका गठबंधन की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया। इस भाषण के फलस्वरूप संपूर्ण अमेरिका में सोवियत विरोधी भावना ने ज़ोर पकड़ लिया। चर्चिल के इस प्रसिद्ध फुल्टन भाषण को शीत युद्ध के आरंभ का सूचक माना जाता है।

(ख) ट्रूमैन सिद्धांत- अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने प्रसिद्ध भाषण में यह घोषित किया था कि वह साम्यवादी प्रसार पर अंकुश लगाएंगे तथा अमेरिका की यह नीति होगी कि जहाँ कहीं भी शांति भंग करने वाला प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आक्रामक कार्य होगा और अमेरिका की सुरक्षा संकट में मानी जाएगी तो उसे रोकने हेतु समग्र प्रयास किया जाएगा। साथ ही उन्होंने इस बात की भी घोषणा की कि अमेरिका उन लोगों की सहायता करेगा जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों या बाहरी दबाव के कारण अधीनता का जीवन बिता रहे हैं। ट्रूमैन का यह निर्णय मुख्यत: यूनान, तुर्की, ईरान आदि देशों को साम्यवादी खेमे में जाने से बचाने के लिए ही लिया गया था। इसी परिप्रेक्ष्य में तत्काल ही यूनान को बड़ी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य आवश्यक सामग्री की आपूर्ति की गई। ट्रूमैन सिद्धान्त के तहत् लोगों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी। अर्थात् ट्रूमैन सिद्धान्त अमेरिका द्वारा आर्थिक एवं सैन्य सहायता के माध्यम से साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने की एक व्यापक रणनीति थी।

(ग) मार्शल योजना- मार्शल योजना राज्य सचिव जॉर्ज.सी. मार्शल द्वारा जून, 1947 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय को संबोधित किया गया एक प्रस्ताव था जो मूलत: ट्रूमैन सिद्धान्त के आर्थिक विचार की प्रतिलिपि थी। अमेरिकी सहायता का प्रस्ताव रखते हुए मुख्य रूप से उसने यूरोप के आर्थिक संकट की ओर ध्यान केन्द्रित किया। उसका यह पक्का विश्वास था कि अमेरिका युद्ध से प्रभावित देशों के स्थायित्व में सहायता कर सकता है। मार्शल योजना का औपचारिक उद्देश्य यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण को बढ़ावा देना था परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य राजनीति से प्रेरित था एवं पश्चिमी यूरोप में साम्यवाद के नियंत्रण को वह कमजोर बनाना चाहता था। इस प्रस्ताव पर यूरोपीय प्रतिक्रिया अत्यंत ही उत्साहजनक थी। इस प्रस्ताव के आलोक में 1948 में एक योजना बनी, जब यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम अस्तित्व में आया। इसमें 16 यूरोपीय देशों ने अमेरिकी सहायता प्राप्त करने हेतु संयुक्त योजना में भाग लिया। हम कह सकते हैं कि सोवियत-अमेरिकी रणनीतियाँ जनता की मनोवृत्ति पर काबू पाने हेतु अग्रसर हुईं। तृतीय विश्व के देशों में विकासशील देशों को अमेरिकी विदेशी सहायता देने की प्रक्रिया 1949 में तकनीकी सहायता से संबंधित प्वाइंट-IV कार्यक्रम के साथ ही शुरू हुई। इसकी अगली कड़ी 1950 तथा 60 के दशक में सामने आई जब विकास अनुदान एवं ऋण के साथ-साथ सैन्य सहायता भी इसमें सम्मिलित की गयी।

(घ) बर्लिन की नाकेबन्दी एवं जर्मनी का विभाजन- 1948 में सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी ने शीत युद्ध को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् फरवरी, 1945 के माल्टा सम्मेलन एवं जुलाई 1945 के पोट्सडैम सम्मेलन

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

में यह निश्चय किया गया था कि जर्मनी एवं बर्लिन दोनों को चार क्षेत्रों में विभक्त किया जाएगा। वस्तुत: बर्लिन का प्रशासन चार शक्तियों सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा संयुक्त रूप से चलाया जा रहा था और इस रूप में बर्लिन की स्थिति शेष जर्मनी से अलग थी। 1947 में एक महत्त्वपूर्ण निर्णय के तहत् पश्चिमी क्षेत्र को मार्शल योजना का लाभ मिलने संबंधी बात तय की गई। 1948 में अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस के नियंत्रण वाले क्षेत्र का एकीकरण हुआ जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न था जबकि रूस के अधीन पूर्वी क्षेत्र विपन्नता की स्थिति में थे। अब स्टालिन ने बर्लिन में पश्चिमी नीतियों को पोट्सडैम संधि का अतिक्रमण समझना शुरू कर दिया। स्टालिन ने इस संबंध में यह घोषणा की कि बर्लिन से पश्चिमी शक्तियों का निष्कासन उसका परम उद्देश्य है। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के क्रम में उसने बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी। हालाँकि कठोर अमेरिकी नीति से दबाव में आकर रूस ने बर्लिन पर से नाकेबन्दी हटा ली। इस प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण कड़ी थी- जर्मनी का दो भागों में विभाजन यथा पूंजीवादी गुट समर्थक पश्चिमी जर्मनी एवं साम्यवादी समर्थक पूर्वी जर्मनी। अगस्त, 1949 में पश्चिमी जर्मनी संघीय गणराज्य के नाम से तथा पूर्वी जर्मनी अक्टूबर, 1949 में जर्मन प्रजातांत्रिक गणराज्य के रूप में सामने आए। अत: बर्लिन की नाकेबंदी जैसी घटनाओं ने शीत युद्ध को विशेष रूप से तूल दिया।

(ङ) नाटो की स्थापना- यह एक सैन्य संगठन था जिसका निर्माण 1949 में संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में हुआ था। उत्तरी अटलांटिक संधि में इस बात पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया था कि यूरोप का उत्तर अमेरिका के किसी एक अथवा अनेक देशों के विरुद्ध किया गया आक्रमण सामूहिक रूप से इस संधि में शामिल सभी देशों के विरुद्ध माना जाएगा एवं संधि में शामिल सभी सदस्य देश सामूहिक रूप से आवश्यक कदम उठाएंगे। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सोवियत संघ के विरुद्ध यह एक चेतावनी थी।

(च) चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना- माओत्से-तुंग के नेतृत्व में चीन में 1 अक्टूबर 1949 को साम्यवादी शासन की स्थापना से शीत युद्ध में गर्माहट आ गई। चीन में साम्यवादियों की विजय से सोवियत संघ का मनोबल काफी बढ़ गया। हालाँकि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में चीन को सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता मिली हुई थी परन्तु जब साम्यवादी नेतृत्व वाले चीन ने महासभा एवं सुरक्षा-परिषद् में अपनी सदस्यता की मांग की तो अमेरिका द्वारा इसका विरोध किया जाना लाज़िमी था। वह नहीं चाहता था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में सोवियत संघ का और कोई समर्थक सम्मिलित हो। चीनी सदस्यता के इस मुद्दे पर भीषण प्रतिक्रिया हुई तथा सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् की बैठकों का बहिष्कार किया। अत: हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन की सदस्यता के मुद्दे पर अमेरिका एवं रूस के मध्य जबर्दस्त कटुता उत्पन्न हुई।

(छ) कोरियाई युद्ध- 1950 में उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध पश्चिमी पूंजीवादी गुट एवं साम्यवादियों के मध्य का युद्ध था क्योंकि उत्तर कोरिया में साम्यवादी सरकार थी। अमेरिकी सक्रियता की वजह से संयुक्त राष्ट्र ने उत्तर कोरिया के इस कृत्य की निंदा की एवं उसे आक्रमणकारी घोषित किया। इतना ही नहीं, अमेरिका के नेतृत्व में अनेक देशों की सेना ने दक्षिण कोरिया की तरफ से हस्तक्षेप किया। इस संघर्ष में चीनी एवं सोवियत सहयोग से उत्तर कोरिया लड़ रहा था एवं संयुक्त राष्ट्र की सेना के नाम पर अमेरिका दक्षिण कोरिया की ओर से था। यद्यपि 1953 में कोरिया युद्ध तो समाप्त हो गया परन्तु शीत युद्ध की तीव्रता बढ़ती गई। इसके अलावा सितंबर, 1957 में अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी देशों ने जापान के साथ शांति संधि पर हस्ताक्षर किए जिसे सोवियत संघ ने एकपक्षीय करार दिया एवं अमेरिका की तीव्र भर्त्सना की।

तीसरा चरण-1953-58 *(Third Phase – 1953-58)*

शीत युद्ध के इस चरण में अमेरिका एवं रूस में राजनीतिक नेतृत्व क्रमश: आइज़नहावर एवं ख्रुश्चेव के हाथों में आया। स्टालिन के उत्तराधिकारी ख्रुश्चेव के समय में इस बात की संभावना व्यक्त की जा रही थी कि ख्रुश्चेव की शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एवं समझौतावादी नीतियों के कारण शीत युद्ध में नया मोड़ आ सकता है, परन्तु यह संभावना निर्मूल साबित हुई।

इस अवधि में सोवियत संघ द्वारा पहली बार परमाणु परीक्षण किया गया। अत: इस स्थिति ने परमाणु क्षेत्र में रूस को अमेरिका के समकक्ष बना दिया। स्वाभाविक रूप से अमेरिका समर्थित पूंजीवादी शक्तियाँ सुरक्षा को लेकर चिंतित हो उठी। अत: इस स्थिति में दोनों महाशक्तियों में घातक परमाणु शस्त्रों के आविष्कार का होड़ शुरू हो गया।

शीत युद्ध की इस अवधि में दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिंदचीन क्षेत्र (वियतनाम, कंबोडिया, लाओस) में दोनों महाशक्तियों ने गहरी दिलचस्पी ली एवं अपनी-अपनी समर्थन वाली सरकारें स्थापित करने के प्रयास में जुट गईं। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में दोनों गुटों ने अलग-अलग पक्षों का समर्थन किया। 1954 में हुए वियतनाम के विभाजन के फलस्वरूप उत्तरी एवं दक्षिणी वियतनाम सामने आया। उत्तरी वियतनाम पर सोवियत प्रभाव तो दक्षिणी वियतनाम पर अमेरिकी प्रभाव स्थापित था। अत: परोक्ष रूप से सोवियत संघ एवं अमेरिका के मध्य संघर्ष का सिलसिला शुरू हुआ।

तीसरी दुनिया के देशों में साम्यवाद का प्रसार रोकने हेतु अमेरिका ने 'सीटो' एवं 'सेंटो' नामक सैन्य समझौतों को परिवर्तित कर दिया। इन समझौतों के अंतर्गत सदस्य देशों को सैनिक एवं अन्य प्रकार के सुरक्षा की गारंटी दी गई। इसके प्रत्युत्तर में सोवियत संघ द्वारा 1955 में पूर्वी एशियाई देशों को साम्यवादी प्रतिरक्षा समझौता (वारसा पैक्ट) में शामिल कर सैन्य एवं अन्य प्रकार की सुरक्षा की गारंटी दी गई। वास्तव में इन सैन्य गुटों के कारण शीत युद्ध और भी उग्र होता गया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

इसी समय अमेरिकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने घोषणा की कि अमेरिकी राष्ट्रपति को पश्चिम एशिया के किसी भी देश में साम्यवादी विस्तार को रोकने हेतु अपनी इच्छानुसार सैन्य कार्रवाई करने का अधिकार होगा ताकि ब्रिटिश सत्ता की कमी के कारण मध्यपूर्व के देशों में जो एक शून्य की स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसे पाटा जा सके। यह घोषणा इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि यदि इस क्षेत्र की शून्यता को अमेरिका नहीं भर पाया तो सोवियत संघ उसे भरने का प्रयास करेगा। अत: इसकी परिणति यह हुई कि सामरिक महत्त्व के पश्चिम एशियाई क्षेत्र एवं तेल कुओं पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए अमेरिका एवं रूस दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध कूटनीतिक चालें चली।

शीत युद्ध की इस अवधि में स्वेज संकट भी गंभीर रूप से चर्चा का विषय बना। 1956 में स्वेज नहर को राष्ट्रीय समस्या की प्रतिक्रिया में फ्रांस एवं ब्रिटेन ने मिस्र पर हमला कर दिया। हालाँकि इस हमले में अमेरिका ने फ्रांस एवं ब्रिटेन का साथ नहीं दिया, परन्तु फिर भी शीत युद्ध में गर्माहट आ गई क्योंकि हमला तो मित्रराष्ट्रों के द्वारा ही किया गया था।

चतुर्थ चरण - 1959-62) *(Fourth Phase – 1959-62)*

शीत युद्ध के इस चरण में ख्रुश्चेव की अमेरिकी यात्रा, तत्पश्चात् विकसित हुए 'कैम्प डेविड की भावना' के परिणामस्वरूप दोनों देशों के मध्य शीत युद्ध में शिथिलता के आसार दिखाई देने लगे। इस यात्रा के फलस्वरूप यह बात तय हुई कि 16 मई, 1960 से पेरिस में एक शिखर सम्मेलन का आयोजन किया जाएगा, जिसमें शस्त्रीकरण की बात निश्चित की जाएगी। परन्तु 1 मई, 1960 को यू-2 विमान कांड की घटना ने कैम्प डेविड की भावना पर पानी फेर दिया। यह एक अमेरिकी जासूसी विमान था जो सोवियत संघ की सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया था। इस घटना ने शीत युद्ध में तूफान ला दिया। इतना ही नहीं, विमान कांड की इस घटना ने पेरिस शिखर सम्मेलन की असफलता को निश्चित कर दिया। जब यह सम्मेलन शुरू हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू-2 विमान का मामला उठाया। अंतत: इस मुद्दे पर हुए गर्माहट एवं तनातनी के माहौल में सम्मेलन की कार्यवाही बन्द करनी पड़ी।

शीत युद्ध की इस अवधि में उत्पन्न क्यूबाई संकट ने दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव को और भी बढ़ा दिया। दक्षिणी अमेरिकी देश क्यूबा, जहाँ 1958 में क्यूबा क्रांति के फलस्वरूप डॉ. फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में अमेरिका समर्थित फुल्गेंकियो बतिस्ता की सत्ता उखाड़ दी गई एवं वहाँ साम्यवादी शासन स्थापित हुआ। फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में स्थापित साम्यवादी सरकार का सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ संबंध था। वास्तव में यह स्थिति अमेरिका हेतु चिंता का विषय थी। सोवियत सहयोग से क्यूबा में सैन्य अड्डे स्थापित हुए जहाँ रॉकेट, मिसाइल आदि शस्त्रास्त्र रखे गए। अत: इस स्थिति में अमेरिका को अपने निकट स्थित क्यूबा की ओर से सुरक्षा के खतरे को समझकर 22 अक्टूबर 1962 को क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा करनी पड़ी। इस स्थिति में सोवियत संघ ने मामले की गंभीरता को देखते हुए सैनिक अड्डा हटाने संबंधी नियमों की घोषणा कर दी। वास्तव में इस क्यूबाई संकट के संबंध में अमेरिकी राष्ट्रपति केनेडी की यह टिप्पणी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि यदि रूस ऐसा निर्णय नहीं लेता अर्थात क्यूबा से सैनिक अड्डा नहीं हटाता तो क्यूबा संकट तृतीय विश्वयुद्ध का कारण बन सकता था।

पाँचवाँ चरण-1963-79 *(Fifth Phase – 1963-79)*

शीत युद्ध के इस चरण में विशेष रूप से दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव में शिथिलता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। इस हेतु विभिन्न घटनाएँ विशेष महत्त्व की साबित हुई- क्यूबाई संकट महाशक्तियों के लिए एक बड़ा झटका था परन्तु 20 जून, 1963 को जेनेवा में सम्पन्न सोवियत-अमेरिकी समझौतों के तहत् मास्को-वाशिंगटन के मध्य 'हॉट लाइन' सेवा प्रारंभ करने की बात तय हुई। इस सीधे संपर्क का उद्देश्य यह था कि किसी भी द्विपक्षीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय संकट की स्थिति में दोनों महाशक्तियों के मध्य गलतफहमी के कारण उत्पन्न टकराव टाला जा सके। इसके अतिरिक्त, 1963 में ही मास्को में रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन ने परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (NTBT) पर हस्ताक्षर किया एवं सभी पक्ष कुछ सीमा तक शस्त्र नियंत्रण की दिशा में अग्रसर हुए। इतना ही नहीं इस अवधि में 1968 में रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन ने मिलकर अन्य देशों के साथ परमाणु अप्रसार संधि (NPT) पर भी हस्ताक्षर किया यह वह संधि थी जिसके अनुसार परमाणु शस्त्र सम्पन्न देशों द्वारा परमाणु शस्त्रविहीन देशों को परमाणु हथियार प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देने की बात तय हुई। एक और घटना इस अवधि में घटित हुई। वह यह थी कि 1972 में दो जर्मन राज्यों का सिद्धान्त स्वीकार किया गया एवं 1973 में दोनों जर्मनी यथा-पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी मिल गई।

तनाव शैथिल्य की इस स्थिति में यद्यपि कुछ तनाव की घटनाएँ भी घटीं जैसे- भारत-पाक युद्ध (1965-71), 1967 का अरब इजरायल युद्ध तथा नवस्वतंत्र अफ्रीकी देशों के टकराव की घटनाएँ सामने आईं।

छठा चरण एवं नवशीत युद्ध - 1980-89 *(Sixth Phase and Neo Cold War – 1980-89)*

शीत युद्ध के इस चरण में जो बातें उभरकर सामने आईं वे यह थीं कि अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन के सत्ता में आते ही अमेरिकी शस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन देने, मित्रराष्ट्रों में शस्त्रीकरण को पुन: तेज करने, शस्त्रों की होड़ में वृद्धि एवं सोवियत संघ के प्रति कठोर नीति अपनाने संबंधी घोषणा के साथ ही शीत युद्ध नए रूप में सामने आया। युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के संघर्ष माध्यम इस

Copyright – Drishti The Vision Foundation

चरण की विशेषताएँ थीं। यह चरण नवशीत युद्ध के नाम से जाना जाता है। इस शीत युद्ध से पहले के शीत युद्ध से कुछ मूलभूत अंतर थे जैसे- पहले के शीत युद्ध में सैद्धांतिक अथवा वैचारिक पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण था जबकि नए शीत युद्ध के टकराव में यह स्थिति नहीं रही। वस्तुत: प्रथम चरण में विशेष रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय संकट यूरोप पर केंद्रित था जबकि 1978 के पश्चात् संघर्ष के लगभग सभी अवसर एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका देशों में दृष्टिगोचर हुए। नवशीत युद्ध के पूर्व अर्थात पुराने शीत युद्ध के समय में दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव तथा टकराव को कम करने एवं शांति को विस्तृत करने के उद्देश्य से गुटनिरपेक्ष आंदोलन का आविर्भाव हुआ। परन्तु, नवशीत युद्ध के आरंभ में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में दरारें पैदा हो गईं। मानवाधिकारों की रक्षा संबंधी नीतियाँ अमेरिकी विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण अंग बनीं। नवशीत युद्ध के क्रम में सोवियत-चीन टकराव ने साम्यवादी गुट में दरार पैदा कर दी। नवशीत युद्ध काल में 1979 में अफगान संकट, कंबोलियाई संकट, ईरान-इराक युद्ध (सितंबर, 1980), मध्य अमेरिकी संकट, राज्य आतंकवाद एवं अंतरिक्ष युद्ध संबंधी अंतर्राष्ट्रीय घटनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

दिसंबर, 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत सैन्य हस्तक्षेप के पश्चात् अमेरिकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर द्वारा गंभीर प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गईं। अफगान क्षेत्र में सोवियत हस्तक्षेप को राष्ट्रपति कार्टर द्वारा शांति के लिए गंभीर खतरा घोषित किया गया। सोवियत सैन्य हस्तक्षेप की तीव्रता से परेशान होकर भारी संख्या में अफगान शरणार्थी पाकिस्तान में प्रवेश करने लगे। इस विकट स्थिति में अमेरिका द्वारा भी हस्तक्षेप किया गया। भारी मात्रा में सैन्य, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक सहयोग देकर अमेरिका ने पाकिस्तान को आधार बनाकर अफगान क्षेत्र की स्थिति को संभालने की कोशिश की। इन कारणों से दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव निरंतर बना रहा।

वियतनाम युद्ध के अंतिम चरण में कंबोडियाई सत्ता पर से सिहानुक के अपदस्थ होने के पश्चात् वियतनामी सेना ने 1979 में कंबोडिया पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया फलत: यह एक ऐसी घटना थी जिसने सोवियत समर्थन से चीन के साथ मुठभेड़ हेतु वियतनाम की तत्परता को जाहिर किया। वास्तव में कंबोडिया की इस घटना से क्षेत्रीय शक्ति समीकरण बिगड़ने की संभावना बढ़ रही थी। फलत: अमेरिकी हस्तक्षेप से अमेरिका-सोवियत तनाव में वृद्धि हुई।

नवशीत युद्ध के इस कालक्रम में ईरान-इराक युद्ध (1980-88) का विशेष महत्त्व है। शत-अल-अरब जलराशि के मुद्दे पर भूमि विवाद, शिया-सुन्नी संघर्ष, खुमैनी-सद्दाम हुसैन के व्यक्तित्वों का टकराव आदि जैसे तत्त्व ईरान एवं इराक के बीच संघर्ष के मूल कारण थे। इस युद्ध में दोनों महाशक्तियों ने भारी मात्रा में शस्त्रों की आपूर्ति का अधिकतम मुनाफा कमाया। तेल उत्पादन में समृद्ध इस क्षेत्र पर अपना व्यापक प्रभाव स्थापित करने के क्रम में दोनों महाशक्तियों के बीच टकराव को बढ़ावा मिला।

यद्यपि नवशीत युद्ध के इस चरण में देतांत (तनाव-शैथिल्य) में कमी आई एवं महाशक्तियों के आपसी संबंध विशेष रूप से प्रभावित हुए। महाशक्तियों के आक्रामक तेवर में वृद्धि हुई, शस्त्रों की होड़ एवं प्रत्यक्ष मुठभेड़ की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई।

1985-91 की अवधि शीत युद्ध की समाप्ति की दृष्टि से सोवियत-अमेरिकी संबंध में ऐतिहासिक अवधि समझी जाती है। 1981 में अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप में रीगन के सत्ता में आते ही अमेरिकी प्रतिष्ठा में गिरावट आने लगी थी। इसका कारण यह था कि वियतनाम में अमेरिका को असफलता मिल रही थी एवं अंगोला से तो अमेरिकी प्रभाव पूर्णत: समाप्त हो चुका था। उधर सोवियत संघ भी नाजुक दौर से गुजर रहा था। मई, 1985 में सोवियत रूस में मिखाइल गोर्बाचोव के सत्ता में आने तथा उसकी ग्लासनोस्त एवं पेरेस्त्रोइका की नीतियों ने सोवियत राजनीति में भूचाल ला दिया। अंतत: सोवियत संघ का 1991 में विखंडन हो गया। वास्तव में यह एक ऐसी घटना थी जिसने महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ को प्रभावहीन बना दिया। यह शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा थी। तत्कालीन समय में एकध्रुवीय विश्व के रूप में अमेरिका का वर्चस्व कायम रह गया। परन्तु, इसे भी स्वीकारा जाना चाहिए कि कई क्षेत्रीय संगठनों तथा अनेक देशों की आर्थिक एवं सैन्य शक्ति में वृद्धि के फलस्वरूप शक्ति के विभिन्न केन्द्र उभरकर सामने आए हैं।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-13

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद
(Imperialism and Colonialism)

**** (इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)*

साम्राज्यवाद से आशय है- एक देश द्वारा दूसरे देश को अपने नियंत्रण में रखकर उसे अपने आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की पूर्ति का साधन बनाना। इसमें राजनैतिक नियंत्रण की व्यवस्था प्रभावी होती है। उपनिवेशवाद औपनिवेशिक राज्य के लोगों द्वारा विजित लोगों के जीवन तथा संस्कृति पर प्रभुत्व स्थापित करने की एक व्यापक व्यवस्था है। उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद से अधिक जटिल विषय है क्योंकि यह उपनिवेशवाद के अधीन रह रहे मूल निवासियों के जीवन पर व्यापक प्रभाव डालता है। इसमें उपनिवेश के लोगों पर औपनिवेशिक शक्ति के लोगों का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक नियंत्रण होता है। साम्राज्यवाद के प्रसार हेतु सैन्य शक्ति का प्रयोग और युद्ध प्रायः अनिवार्य होता है लेकिन वहीं उपनिवेशवाद में कोई जरूरी नहीं है कि सैन्य शक्ति अथवा युद्ध का रास्ता अपनाया ही जाए।

औपनिवेशिक प्रणाली *(Colonial System)*

यूरोपीय देशों में पुनर्जागरण के फलस्वरूप होने वाले ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के फलस्वरूप यूरोप नई दुनिया के अग्रदूत के रूप में प्रस्तुत हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में प्रारंभ हुई भौगोलिक अन्वेषण की नवीन प्रवृत्ति के फलस्वरूप खोजे गए नए क्षेत्रों पर स्पेन तथा पुर्तगाल द्वारा उपनिवेशों की स्थापना की गई। 1492 में स्पेन के प्रसिद्ध नाविक कोलंबस द्वारा अमेरिका की खोज एवं पुर्तगाली नाविक वास्को-डी-गामा के प्रयास से 1498 में भारत की खोज ने इस दिशा में सार्थक पहल की। इसी प्रकार पुर्तगाल का एक नाविक मैगलन द्वारा फिलिपाइन द्वीपसमूह की खोज की गई। इस खोज के क्रम में मैगलन ने पूरे विश्व का चक्कर लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी गोल है। इन साहसिक समुद्री यात्राओं के फलस्वरूप नवीन भौगोलिक खोजों ने व्यापार में क्रांति ला दी एवं उपनिवेश बसाने की ऐसी नई धारा बही जिसके कारण विश्व के इतिहास में एक नया मोड़ आ गया। इस क्रम में दूसरे यूरोपीय देश जैसे इंग्लैंड, फ्रांस एवं नीदरलैंड भी इस चुनौतीपूर्ण खोज की दौड़ में शामिल हुए। इस तरह विश्व के संपूर्ण भौगोलिक ज्ञान की नींव पड़ी एवं इन्हीं खोजों के आधार पर आगे चलकर विश्व के लगभग हर क्षेत्र पहली बार एक-दूसरे के नियमित संपर्क में आए। अभी तक इन भौगोलिक खोजों तथा स्थापित नए-नए उपनिवेशों से मूलतः कच्चा माल प्राप्त करना एवं तैयार माल को इन उपनिवेशों में बेचने जैसी गतिविधियाँ ही संचालित होती थीं परन्तु नवीन साम्राज्यवाद के तहत इन उपनिवेशों में राजनीतिक शक्ति का प्रसार करने तथा अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने जैसे प्रयास भी प्रारंभ हुए।

नई दुनिया का शोषण *(Exploitation of New World)*

भौगोलिक अन्वेषण के युग में मुख्यतः स्पेन एवं पुर्तगाल के शासकों के सहयोग से नई दुनिया की खोज का कार्य संपन्न हुआ। यूरोपीय वाणिज्यिक संस्थाओं जैसे बैंक, मुद्रा प्रणाली, संयुक्त उद्यम आदि जैसे महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक तत्त्वों ने पूंजीवादी उद्यमियों तथा व्यापार नीति-निर्माताओं को नई दुनिया के शोषण की विशेष सुविधाएँ प्रदान कीं। एशिया, अफ्रीका एवं अमेरिका के विस्तृत क्षेत्र पर स्थापित विभिन्न यूरोपीय देशों के उपनिवेश के कारण व्यापक शोषण का युग शुरू हुआ। अमेरिका में इंका एवं एजटेक जैसी मूल सभ्यताओं का विनाश कर विशाल मात्रा में सोना एवं चाँदी लूटा गया। स्पेन, पुर्तगाल सहित अन्य यूरोपीय देशों ने भी पेरू, बोलिविया तथा मैक्सिको की खानों के बहुमूल्य धातुओं की प्राप्ति हेतु शोषण किया। इस तरह बहुत अधिक मात्रा में सोना एवं चाँदी यूरोप पहुँचा। पराजित लोगों से जबरन श्रम कराया जाता था। सोने की खानों के खाली होते जाने के साथ ही अधिकांश स्पेनिश द्वारा अमेरिका के मूल निवासियों की भूमि छीनकर वहाँ गेहूँ, चावल, गन्ना, कॉफी आदि की खेती करना आरंभ कर दिया गया। वेस्टइंडीज, अर्जेंटीना एवं मैक्सिको में बड़े-बड़े कृषि एवं पशु फार्मों की स्थापना की गई। इन प्रयासों के फलस्वरूप उत्पादित माल को यूरोपीय देशों में निर्यात किया जाने लगा। ज्ञातव्य है कि इन निर्यातों से होने वाले लाभ में मूल निवासियों का हिस्सा नगण्य होता था। विभिन्न उपनिवेशों में उत्पादन प्रक्रिया के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था- दास व्यापार। यूरोपीय लोगों के अमेरिका विजय के पश्चात् उत्तरी अमेरिका, वेस्टइंडीज तथा ब्राज़ील में मुख्य रूप से बागान प्रथा की शुरुआत हुई। इन बागानों में अफ्रीकी दासों से काम कराया जाता था। इस प्रकार अमेरिका एवं अफ्रीका दो महाद्वीप शोषण की इस अमानवीय व्यवस्था से एक साथ जुड़ गए जबकि अमेरिका के मूल निवासियों को कृषि दासों की स्थिति में डाल दिया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अटलांटिक पार दास व्यापार *(Slave Trade Across Atlantic)*

यद्यपि प्रारंभ में दास व्यापार की शुरुआत सौदागरों, नाविकों एवं जलदस्युओं द्वारा की गई परन्तु सोलहवीं शताब्दी के अंतिम काल में दास व्यापार अधिक संगठित रूप में एक सुनिश्चित योजना के तहत् होने लगा। दास व्यापार का संचालन मुख्यत: संगठित कंपनियों के द्वारा होने लगा, जो मूलत: सरकार द्वारा समर्थन प्राप्त कंपनी होती थी।

अमेरिका में की जाने वाली कृषि एवं खनन कार्यों का संपादन पूर्ण रूप से दासों के श्रम पर ही होता था। अटलांटिक पार दास व्यापार लगभग तीन दशकों तक नियोजित तरीके से निर्बाध रूप में चलता रहा। इस लंबी अवधि के दौरान दास व्यापार में संलग्न व्यापारियों एवं उनके एजेंटों ने अफ्रीकी लोगों को पकड़ने का काम जारी रखा। इस क्रम में पहले तो अफ्रीका के तटीय क्षेत्रों में और पुन: पूर्वी क्षेत्रों में इन्हें बंदी बनाकर अटलांटिक पार के बाजारों में बेचा जाता था। इस दास व्यापार में स्पेनिश, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, डच एवं अंग्रेज सभी यूरोपीय शक्ति संलग्न थे। इस दास व्यापार के स्वरूप का पैटर्न त्रिकोणात्मक था, जैसे- कैरेबियन द्वीपों से अंग्रेज रम प्राप्त करते थे और उसे अफ्रीकी देशों में बेचकर वहाँ से दास प्राप्त करते थे तथा अफ्रीका के पश्चिमी तट से दक्षिण अटलांटिक पार जमैका या बारबाडोस पहुँचकर इन दासों के बदले शीरा प्राप्त करते थे और अंतत: यह शीरा इंग्लैंड पहुँचता था। त्रिकोण व्यापार का एक और उल्लेखनीय उदाहरण है- लिवरपूल में निर्मित सामान अफ्रीका ले जाया जाता था और वहाँ पर दासों का विनिमय होता था। इन दासों को अटलांटिक पार कर वर्जिनिया के बाजार में बेचा जाता था तथा बदले में वहाँ से प्राप्त तंबाकू को इंग्लैंड के बाजारों में बेचकर अधिकतम मुनाफा कमाया जाता था। इस व्यापार ने यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था को सशक्त आयाम प्रदान किया। 16वीं-17वीं शताब्दी के आरंभ में दास व्यापार का संचालन विभिन्न देशों की सरकारों के अंतर्गत पूर्णत: नियोजित तरीके से होता था परन्तु दास व्यापार के संचालन का यह स्वरूप परिवर्तित होता गया। संचालन का कार्य निजी व्यापारियों के लिए भी खोल दिया गया। फलत: दास व्यापार में और भी अधिक तीव्रता आई। 18वीं शताब्दी के अंत तक यूरोपीय देशों में इस अमानवीय दास व्यापार के विरोध स्वरूप कोई गंभीर प्रतिक्रिया स्पष्टत: नहीं दिखाई देती है इसका एक पक्ष यह भी है कि 18वीं शताब्दी में तीव्र वाणिज्यिक दौर में दास व्यापार का महत्त्वपूर्ण योगदान था और यही कारण था कि इस लाभप्रद व्यापार की समाप्ति के मुद्दे पर विभिन्न यूरोपीय देशों की सोच दास व्यापार को बरकरार रखने की थी। अमेरिका जैसे देशों में जहाँ दास प्रथा वहाँ की जीवनशैली का एक अभिन्न हिस्सा बन चुका था तथा इसी मुद्दे पर उत्तरी-दक्षिणी अमेरिका में गृहयुद्ध चला था, अतत: 19वीं शताब्दी के छठे दशक में वहाँ दास प्रथा को समाप्त कर दिया गया। 1807 ई. में मानवतावादी एवं सुधारवादी दबावों के कारण इंग्लैंड में दास व्यापार समाप्त कर दिया गया तथा 1835 में संपूर्ण ब्रिटिश उपनिवेशों में दास प्रथा समाप्त कर दी गई।

नव-साम्राज्यवाद *(Neo-Imperialism)*

19वीं शताब्दी में साम्राज्यवाद के परंपरागत स्वरूप में परिवर्तन आ गया। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में विकसित होने वाली नई विचारधारा अर्थात् एडम स्मिथ एवं तुर्गो द्वारा प्रतिपादित मुक्त व्यापार के सिद्धान्त ने व्यापारिक शोषण की श्रृंखला की शुरुआत की। इसी आधार पर व्यापारिक शोषण के इस पद्धति को 19वीं शताब्दी में मुक्त व्यापार का उपनिवेशवाद भी कहा जाता है।

19वीं शताब्दी के अंतिम काल में यूरोप में नव-साम्राज्यवाद की शुरुआत हुई। पूर्व उपनिवेशवाद की प्रकृति जहाँ वाणिज्यवादी थी अर्थात् साम्राज्यवादी देशों का मुख्य उद्देश्य अपने उपनिवेशों से कच्चे माल की आपूर्ति एवं निर्मित माल के बिक्री हेतु बाजार के रूप में उपनिवेशों का उपयोग करना था, वहीं नव-साम्राज्यवाद की मुख्य विशेषताएँ परंपरागत उद्देश्यों अर्थात् कच्चे माल की प्राप्ति एवं बाजार के अतिरिक्त अपनी राजनीतिक शक्ति के प्रसार एवं औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या को अन्यत्र बसाने की भी थी।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों की शक्ति में अपार वृद्धि हुई। अब सरकार इस परिवर्तित स्थिति में नए-नए कर लगाकर धन का संग्रह कर सकती थी और इस धन का उपयोग सेना एवं सैन्य सामग्री के साथ साम्राज्यवादी युद्धों में भी किया जा सकता था। अब साम्राज्य विस्तार ही राष्ट्रीय सम्मान का पर्याय माना जाने लगा। स्वाभाविक रूप से इस स्थिति में संपूर्ण देश साम्राज्यवादी युद्धों में खुलकर अपने देश का समर्थन करने लगा। युद्ध हेतु नए-नए हथियार का आविष्कार तथा उत्पादन वृहत् पैमाने पर शुरू हुआ। इस समय एशियाई एवं अफ्रीकी देशों में शासन-प्रशासन के क्षेत्र में क्षीणता आ रही थी। इसके विपरीत नवोदित यूरोपीय राष्ट्रों के पास आधुनिक प्रशासनतंत्र विकसित हो चुका था, समुन्नत कर व्यवस्था के कारण युद्ध के संबंध में नए-नए कर लगाकर या ऋण लेकर असीमित व्यय करने की क्षमता अर्जित कर चुके थे अर्थात् ये यूरोपीय राष्ट्र साधन संपन्न एवं शक्ति संपन्न भी थे।

नव-साम्राज्यवाद के उद्भव एवं विकास के कारण
(Causes of Emergence of Neo-Imperialism and Its Development)

साम्राज्यवाद मूलत: साम्राज्यवादी देशों द्वारा अविकसित देशों में आर्थिक हितों में किया गया राजनीतिक शक्ति का प्रसार था। राजनीतिक नियंत्रण, औपनिवेशिक हित एवं नीतियाँ, औपनिवेशिक राज्य तथा प्रशासकीय संस्थाएँ, औपनिवेशिक सांस्कृतिक राज्य तथा

Copyright – Drishti The Vision Foundation

प्रशासकीय संस्थाएँ, औपनिवेशिक संस्कृति व समाज, औपनिवेशिक विचारधाराएँ आदि तत्त्व इसके अंतर्गत आते हैं। ये सभी तत्त्व औपनिवेशिक ढाँचे के भीतर ही कार्य करते हैं।

नव-साम्राज्यवाद के उदय में जिन तत्त्वों ने विशेष भूमिका निभाई वे निम्नलिखित हैं-

(i) **आर्थिक कारण-** आर्थिक कारणों के मूल में औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप मानव समाज के आर्थिक संगठन में होने वाले परिवर्तन अंतर्निहित थे। इस क्रांति के फलस्वरूप विशाल पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। इतने बड़े पैमाने पर होने वाले वस्तुओं के उत्पादन ने कई चुनौतीपूर्ण स्थितियों को जन्म दिया, जैसे कच्चे माल की उपलब्धता एवं निर्मित उत्पाद की बिक्री हेतु बाजार की सुविधा। यूरोपीय देशों में होने वाले औद्योगिक उत्पादों हेतु आवश्यक कच्चे माल की उपलब्धता व बाजार की सुविधा अपर्याप्त थी। अतः इन देशों के व्यापारी वर्ग द्वारा अपनी सरकार के ऊपर दबाव डाला गया कि वे उपनिवेश स्थापित कर उस पर अपना अधिकार जमायें। यही नव-साम्राज्यवाद का आधार बना।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन लागत में भी कमी आई और वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ गया। फलतः लाभ की मात्रा में वृद्धि हुई। अतः एकत्र हुई पूंजी का उपयुक्त स्थानों व क्षेत्रों में निवेश आवश्यक था। पूंजीपतियों द्वारा अधिक लाभ कमाने की आशा से अविकसित देश को सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया क्योंकि वहाँ मजदूरी सस्ती एवं प्रतियोगिता कम थी एवं कच्चा माल सस्ते में उपलब्ध होने के कारण लाभ की संभावना अपार थी।

इस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह विकसित हुई कि आर्थिक शोषण संगठित रूप से हो और लाभ की संभावना भी अधिकाधिक हो। इसके लिए आवश्यक था कि उपनिवेश की राजनीतिक सत्ता पर प्रत्यक्ष नियंत्रण हो।

(ii) **तकनीकी विकास-** यूरोप में विभिन्न क्षेत्रों में हुए तकनीकी विकास जैसे रेलवे, डाक, तार, टेलीफोन आदि से काफी हद तक उपनिवेशों पर प्रभावी नियंत्रण संभव हो पाया।

(iii) **जनसंख्या की समस्या-** औद्योगिक क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम जनसंख्या में तीव्र वृद्धि भी थी। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक मात्रा में आर्थिक संसाधनों का होना अनिवार्य था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में बेरोजगारी बढ़ी और खाद्यान्नों की कमी ने एक गंभीर समस्या का रूप धारण कर लिया। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया कि इन जनसंख्या को किसी सुरक्षित स्थानों पर बसाया जाय और यही वह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जब विभिन्न यूरोपीय देशों ने अपने देशवासियों को उपनिवेशों में बसाना प्रारंभ किया, जहाँ रहकर भी वे अपनी मातृभूमि से संबंध बरकरार रख सकते थे। इस समय एशिया, अफ्रीका एवं अमेरिका में बहुत से प्रदेश खाली पड़े थे जहाँ उपनिवेश बसाने की उपयुक्त संभावना थी। इन उपनिवेशों की महत्ता शीघ्र ही सामने आई। अधिकाधिक संख्या में यूरोपीय लोग एशिया, अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया जैसे जगहों में जाकर बसने लगे।

(iv) **ईसाई मिशनरियों की भूमिका-** साम्राज्यवाद की सफलता में ईसाई मिशनरियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इन ईसाई मिशनरियों ने धर्म प्रचार के उद्देश्य से औपनिवेशिक विस्तार को न्यायसंगत साबित किया। इस संबंध में इंग्लैंड के डॉ॰ लिविंगस्टोन ने अफ्रीका के जाबेजी एवं कांगो नदी क्षेत्रों की खोज कर अफ्रीका में ईसाई धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार की पृष्ठभूमि तैयार की। उनका मत था कि इन क्षेत्रों में ब्रिटिश साम्राज्य कायम हो ताकि वहाँ ईसाई धर्म का भलीभाँति प्रचार किया जा सके। पी.टी. मून ने अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद और राजनीति' में यह बात भली-भाँति रखी कि ईसाई पादरियों ने स्थानीय आदिवासियों को कपड़ा पहनना सिखाया।

(v) **राष्ट्रीय गौरव तथा उग्र राष्ट्रवाद का विकास-** नव-साम्राज्यवाद के विकास में राष्ट्रीयता की भावना ने भी उत्प्रेरक का काम किया। जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् जर्मनी के आत्मसम्मान में हुई वृद्धि के फलस्वरूप इंग्लैंड एवं हॉलैण्ड की तरह वह अपने साम्राज्य विस्तार की इच्छा रखने लगा। यह भावना इटली तथा यूरोप के अन्य देशों में भी जागृत हुई। इतना ही नहीं 19वीं शताब्दी में साम्राज्य विस्तार का प्रश्न प्रतिष्ठा एवं राष्ट्र के सम्मान का तार्किक मापदंड बन गया और प्रत्येक यूरोपीय देश अपने साम्राज्य का विस्तार कर अपनी जनता का मनोबल ऊँचा करने के प्रयास में गंभीर रूप से संलग्न हो गया। यह धारणा भी बनी कि महान शक्ति का दर्जा पाने के लिए उपनिवेशों का होना नितांत आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि उपनिवेशों की स्थापना व साम्राज्य विस्तार के संबंध में उग्र चेतना सर्वप्रथम जर्मनी में उपजी थी तत्पश्चात् यह जर्मनी से अन्य राष्ट्रों में भी पहुँची। साम्राज्यवाद को विभिन्न स्रोतों से अभिप्रेरणा मिल रही थी तथा उसका स्वरूप भी हर जगह एक समान नहीं था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गलाकाट प्रतियोगिता के युग में जिसे जहाँ मौका मिला उसने साम्राज्यवादी लिप्सा तथा भूख को शांत करने हेतु उचित एवं अनुचित सभी रास्तों को अपनाया। इस समय साम्राज्यवादी प्रवृत्ति और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हुई। 1875 में अफ्रीका महाद्वीप का दसवें से भी कम भाग यूरोपीय देशों के अधिकार क्षेत्र में था, परन्तु सिर्फ अगले 20 वर्षों में ही अर्थात् 1895 तक महाद्वीप के कुल 90% क्षेत्र विभिन्न देशों के अधीन अधिकृत हो गए। इस समय ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम आदि यूरोपीय देशों के साम्राज्य विस्तार में अत्यधिक तीव्रता आई। विश्व के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि पृथ्वी के अधिकांश हिस्सों पर मुट्ठीभर यूरोपीय देशों की संप्रभुता

Copyright – Drishti The Vision Foundation

स्थापित हुई। नव-साम्राज्यवाद के इस युग में पश्चिमी शक्तियों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा का शिकार अफ्रीका, पूर्वी एशिया तथा लैटिन अमेरिका क्षेत्र हुए।

अफ्रीका में साम्राज्यवाद *(Imperialism in Africa)*

19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक यूरोपीय लोगों को अफ्रीका महादेश के बारे में काफी कम जानकारी थी। अफ्रीका के तटवर्ती क्षेत्र से ही वे परिचित थे। भू-मध्यसागर के दक्षिण में स्थित अफ्रीकी महादेश अंध महादेश के नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ के निवासी निग्रो प्रजाति के काले रंग वाले होते थे। यह एक विशाल महादेश के रूप में जंगलों एवं पहाड़ों से भरा पड़ा था।

अफ्रीका पहुँचने वाले पहले यूरोपीय धर्मप्रचारक स्कॉटलैंड निवासी डॉक्टर लिविंगस्टोन थे जिन्होंने 1840 ई. में अफ्रीका का पता लगाया था। उनकी इस उपलब्धि के पश्चात् वहाँ धर्मप्रचारकों तथा सौदागरों का ताँता लग गया जिसमें स्टैनली का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्टैनली ने अफ्रीका महादेश की अपार संभावनाओं को रेखांकित किया। स्टैनली एवं बेल्जियम के तत्कालीन शासक लियोपोल्ड द्वितीय ने मध्य अफ्रीकी कांगो नदी अंचल को विकसित करने के उद्देश्य से 'इंटरनेशनल कांगो एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की। उस समय अफ्रीका का संपूर्ण क्षेत्र शासित प्रदेश नहीं माना जाता था। जो भी यूरोपीय वहाँ पहले पहुँचता था, उसके लिए वहाँ कोई प्रतियोगिता नहीं थी। इस तरह अफ्रीका में प्रवेश का प्रयत्न करने वाला प्रमुख यूरोपीय देश बेल्जियम था। उन दिनों अफ्रीका का केप कॉलोनी ब्रिटेन के अंतर्गत था जहाँ अंग्रेज वहाँ के स्थानीय लोगों के साथ बोअर युद्ध में व्यस्त थे। बेल्जियम शासक लियोपोल्ड-II के अथक प्रयास से 1876 में ब्रुसेल्स में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें अफ्रीका के निवासियों को समझने तथा धर्म का पाठ पढ़ाने हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय सभा का गठन किया गया। इस सभा के निर्माण से स्टैनले एवं लियोपोल्ड की ख्याति बढ़ती गई। स्टैनले ने इस सभा की सुरक्षा हेतु अफ्रीका की अनेक यात्राएँ की, जहाँ उसने अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रीय राजाओं एवं सरदारों से संधि समझौता कर उस क्षेत्र विशेष को अंतर्राष्ट्रीय सभा के अंतर्गत शामिल करने में सफलता प्राप्त की।

लियोपोल्ड की यह अंतर्राष्ट्रीय सभा अत्यंत ही तीव्र गति से अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों को अपने संरक्षण में शामिल कर रही थी। इस पर अन्य यूरोपीय देशों ने आपत्ति दर्ज की, विशेष रूप से इंग्लैंड एवं पुर्तगाल ने। अंगोला एवं मोजाम्बिक में पुर्तगाल के अधीन दो प्रमुख उपनिवेश थे। अतः मध्यवर्ती क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित कर विशाल साम्राज्य स्थापित करना पुर्तगाल का मुख्य लक्ष्य था। इंग्लैंड द्वारा इसका समर्थन किया गया। यूरोपीय राज्यों की सरकारें अफ्रीका के इस दलदल में फँसना नहीं चाहती थीं। यूरोप के मानचित्र पर प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे जर्मनी जैसे देश (जिसका चांसलर बिस्मार्क था) ने अफ्रीका में उपनिवेश की स्थापना को अत्यंत ही मूर्खतापूर्ण कदम माना था। इतना होने के बावजूद भी विभिन्न यूरोपीय देशों के कुछ उत्साही लोग अफ्रीका के मामलों में दिलचस्पी लेने हेतु दबाव डाल रहे थे। अतः इन विभिन्न यूरोपीय देशों के अथक प्रयास से अफ्रीका की परिस्थिति पर विचार करने हेतु 1884 में बर्लिन में एक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में स्विट्जरलैंड के अतिरिक्त अन्य सभी यूरोपीय देश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि ने भाग लिया। इस सम्मेलन में मुख्यतः कांगो बेसिन के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र पर लियोपोल्ड की अंतर्राष्ट्रीय सभा का अधिकार स्वीकार करने संबंधी निर्णय लिया गया। यही क्षेत्र 1885 में कांगो के स्वतंत्र राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया और कांगो के इस नवगठित राज्य के अधिपति के रूप में लियोपोल्ड-II की सत्ता को स्वीकार किया गया।

19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में प्रायः सभी प्रमुख यूरोपीय देश अफ्रीकी क्षेत्रों में अधिकाधिक हिस्से प्राप्त करने हेतु गंभीरतापूर्ण प्रयास करने लगे। इन यूरोपीय देशों में मुख्यतः इंग्लैंड, फ्राँस, जर्मनी, पुर्तगाल, इटली आदि जैसे देश काफी सक्रिय थे। इन देशों की राय में अफ्रीका का विशाल क्षेत्र उसके निवास तथा शासन के लिए खुला हुआ था। 1890 में यूरोप के ये सभ्य देश अफ्रीकी क्षेत्रों को आपस में बाँट लेने हेतु पूर्णतः उतारू हो गए और इस तरह से विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा अफ्रीका के संगठित लूट की प्रक्रिया शुरू हुई। इस प्रकार जो अफ्रीका कुछ वर्ष पूर्व तक एक अज्ञात, अपरिचित एवं दुर्गम क्षेत्र था अब वही क्षेत्र विभिन्न यूरोपीय देशों के मध्य विभाजित होने लगा। विभिन्न अफ्रीकी क्षेत्रों में साम्राज्यवाद के विस्तार को हम निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं-

पश्चिमी तथा मध्य अफ्रीकी क्षेत्र *(Western and Middle African Regions)*

इस क्षेत्र में मुख्य रूप से बेल्जियम द्वारा कांगो क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित किया गया। इस क्षेत्र में प्रारंभ में रबर और हाथी दाँत जैसे संसाधनों का भरपूर दोहन किया गया। उसके बाद वहाँ सोना, हीरा, यूरेनियम, इमारती लकड़ी और तांबा धीरे-धीरे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। इन प्राकृतिक संसाधनों के दोहन हेतु संयुक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैंड सहित विभिन्न यूरोपीय देश बेल्जियम के साथ संलग्न हो गए।

नाइजीरिया में पर्याप्त मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता ने विभिन्न यूरोपीय देशों को आकर्षित किया। प्रारंभ में अंग्रेजों द्वारा इस क्षेत्र में दास व्यापार की गतिविधियाँ चलाई गई थी और इसके लिए नाइजीरिया के एक भाग पर कब्जा कर लिया गया था। इस दिशा में फ्राँसीसी भी दिलचस्पी ले रहे थे परन्तु अंततोगत्वा ब्रिटिश सरकार ने नाइजीरिया को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) घोषित कर दिया। समय के साथ ब्रिटेन द्वारा पश्चिमी अफ्रीका के गोल्ड कोस्ट, सियरा लियोन आदि क्षेत्रों पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया गया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

फ्राँस ने भी इस क्षेत्र में व्यापक रुचि ली। उसने अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित सेनेगल पर अधिपत्य स्थापित किया। इसके अलावा सेनेगल, फ्रेंच गिनी, आइवरी कोस्ट, अपर बोल्टा (वर्तमान में बुर्कीना फासो), नाइजर टेरीटरी आदि क्षेत्र पर फ्राँस का कब्ज़ा हो गया। 1880 के पश्चात् अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों में जर्मनी की भी दिलचस्पी बढ़ी और इसी का परिणाम था कि जर्मनी ने पश्चिमी तट पर टोगोलैंड और कैमरून पर कब्जा कर लिया। इसके अलावा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर भी जर्मनी का कब्ज़ा हो गया। जर्मनी अंगोला एवं मोजाम्बिक के पुर्तगाली उपनिवेशों और कांगों पर भी अधिकार जमाना चाहता था। अंगोला तथा मोजाम्बिक को बाँटने संबंधी मुद्दों पर जर्मनी एवं ब्रिटेन में संधि भी हुई थी परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने एवं उसमें जर्मनी के पराजय के परिणामस्वरूप जर्मनी के अफ्रीकी क्षेत्र के सभी उपनिवेश विजेता शक्तियों के अधीन आ गए। टोगोलैंड एवं कैमरून का क्षेत्र फ्राँस एवं ब्रिटेन के मध्य जबकि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका को दिया गया।

पश्चिमी तट पर रियोद ओरो एवं स्पेनी गिनी नामक दो स्पेनी उपनिवेश थे जबकि पुर्तगाल के अधीन अंगोला एवं पुर्तगाल गिनी जैसे समृद्ध क्षेत्र थे। पश्चिमी अफ्रीका क्षेत्र में लाइबेरिया की विशिष्ट स्थिति थी, क्योंकि इस देश पर किसी भी यूरोपीय देशों द्वारा कब्जा नहीं किया गया था। ज्ञातव्य है कि लाइबेरिया में वे दास बसे हुए थे, जो बड़े पैमाने पर अमेरिका से मुक्त कर दिए गए थे। यद्यपि यह एक स्वतंत्र देश था परन्तु अमेरिका का प्रभाव कायम था।

दक्षिणी अफ्रीका *(Southern Africa)*

डचों द्वारा दक्षिणी अफ्रीका में केप कॉलोनी स्थापित की गई थी परन्तु 19वीं शताब्दी के आरंभ में यह क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन आ गया। अत: इस क्षेत्र के बोअर नाम से जाने जाने वाले डच वाशिंदे उत्तर की ओर पलायन कर नटाल एवं ऑरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रांसवाल की स्थापना की। परन्तु ट्रांसवाल में संसार की सबसे बड़ी सोने की खान का पता लगने के साथ ही परिस्थिति बदल गई और यही सोना मुख्य रूप से अंग्रेजों के आकर्षण का कारण बना। सोने की लालच में इतने अधिक अंग्रेज ट्रांसवाल क्षेत्र में घुस गए कि शीघ्र ही उन्होंने वहाँ बोअरों पर अपना दबदबा बना लिया। धीरे-धीरे इन अंग्रेजों द्वारा बोअर सरकार से यह मांग रखी जाने लगी कि बोअर सरकार के निर्माण में वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। इस मांग को स्वीकार किये जाने से बोअरों पर खतरे के बादल छा जाने का डर था, अत: इसी कारण से बोअरों ने अंग्रेजों की इस मांग को स्वीकार नहीं किया। इस अस्वीकारोक्ति की परिणति बोअर युद्ध (1899-1902) के रूप में सामने आई। इस युद्ध में बोअरों की पराजय हुई तथा इसके दोनों उपनिवेश यथा ट्रांसवाल एवं ऑरेंज फ्री स्टेट ब्रिटिश उपनिवेश बना लिए गए। इसके बाद दक्षिण अफ्रीका संघ की स्थापना की गई जिसमें केप, नटाल, ट्रांसवाल एवं ऑरेंज रिवर कॉलोनी शामिल थे।

पूर्वी अफ्रीका *(Eastern Africa)*

पूर्वी अफ्रीका के अंतर्गत 1884 तक मोजाम्बिक के एक वृहत् भाग पर पुर्तगाली आधिपत्य कायम था। इस समय तक पूर्वी अफ्रीका में और कोई भी यूरोपीय शक्ति मौजूद नहीं थी। परन्तु उसी साल जर्मन निवासी कार्ल पाट्र्स ने पूर्वी अफ्रीका के तटीय क्षेत्रों में पर्याप्त धाक जमा ली। इस क्षेत्र में फ्राँस एवं इंगलैंड की भी आँखे जमी हुई थी इसलिए बीच का रास्ता निकालते हुए जर्मनी, फ्राँस एवं इंग्लैंड के मध्य एक महत्त्वपूर्ण समझौता हुआ। इस समझौता के अनुसार वर्तमान मेडागास्कर फ्राँस को तथा पूर्वी अफ्रीका इंगलैंड एवं जर्मनी के बीच विभाजित कर दिया गया। मोजाम्बिक स्थित पुर्तगाली उपनिवेश को भी इंगलैंड एवं जर्मनी के बीच बाँटे जाने की बात तय हुई थी परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के कारण यह योजना कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाई। प्रथम विश्व युद्ध के फलस्वरूप जर्मनी से उसके सभी उपनिवेश छिन गए। पूर्वी अफ्रीका इंगलैंड को दे दिया गया, जो वर्तमान समय में तंजानिया के नाम से प्रसिद्ध है।

उपनिवेशों की दौर में इटली भी जर्मनी की तरह काफी देर से शामिल हुआ। इटली द्वारा अफ्रीका के 'सोमालीलैंड' एवं 'एरिट्रिया' नामक दो रेगिस्तानी क्षेत्रों को अधिकृत कर लिया गया। वर्तमान में इथियोपिया जिसका प्राचीन नाम अबीसीनिया है उस समय एक स्वतंत्र राज्य था। इस अबीसीनियाई क्षेत्रों में इटली की साम्राज्यवादी निगाहें लगी हुई थी। इसी के परिणामस्वरूप अबीसीनिया एवं इटली के मध्य 1896 में 'अदोवा का युद्ध' हुआ, जिसमें फ्राँस की सैन्य सहायता से इटली की पराजय संभव हो पाया। वस्तुत: इस हार के बावजूद भी इटली को इस क्षेत्र विशेष के प्रति मोह भंग नहीं हुआ और यही कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व इटली द्वारा इसे जीतने की हर संभव कोशिश की गई।

उत्तरी अफ्रीका *(Northern Africa)*

अल्जीरियाई क्षेत्र को फ्राँस ने 1830 में कब्जा कर लिया परन्तु फ्राँसीसी आधिपत्य को मजबूत बनाने में एक लंबा अरसा लगा। यह उपनिवेश फ्राँस के लिए बहुत ही फायदेमंद था क्योंकि फ्राँसीसी माल का यह एक बहुत बड़ा बाज़ार था। इसके अलावा उत्तरी अफ्रीका स्थित ट्यूनीशिया का क्षेत्र इंगलैंड, फ्राँस एवं इटली की साम्राज्यवादी लोलुपता के कारण अत्यंत ही संवेदनशील क्षेत्र बन गया था। फलत: इस क्षेत्र में तनाव कम करने हेतु एक महत्त्वपूर्ण समझौतों के तहत् ट्यूनिशिया फ्राँस को मिला जबकि साइप्रस द्वीप पर इंगलैंड के कब्जे को फ्राँस द्वारा स्वीकार किया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

उत्तरी अफ्रीका में मोरक्को भी एक अन्य महत्त्वपूर्ण देश है। इस क्षेत्र में फ्राँस एवं इटली के मध्य तीव्र प्रतिद्वंद्विता थी। सन् 1900 में दोनों के मध्य हुए समझौते के तहत् मोरक्को पर फ्राँस का अधिकार स्वीकार कर लिया गया जबकि फ्राँस द्वारा ट्यूनीशिया के पूर्व स्थित त्रिपोली एवं सायरेनायका पर इटली का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इसी तरह मिस्र पर इंगलैंड के अधिकार को मान्यता मिली। उत्तरी अफ्रीका के इस विभिन्न प्रदेशों पर ब्रिटेन, फ्राँस, जर्मनी, इटली एवं स्पेन सरीखे साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच उपनिवेश स्थापना हेतु तीव्र तनाव उत्पन्न हो गया और कभी-कभार तो ऐसी भी स्थिति आयी जब इन सभी साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। यद्यपि सभी साम्राज्यवादी देशों ने इस नए अंतर्राष्ट्रीय संकट को आपसी समझौते के तहत् काफी हद तक संतुष्ट होने में ही अपनी भलाई समझी।

19वीं शताब्दी में जब विभिन्न अफ्रीकी क्षेत्रों में उपनिवेश स्थापित करने हेतु विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच लूट-खसोट का सिलसिला शुरू हुआ तो मिस्र जो कि तुर्क साम्राज्य का एक प्रांत था, पर ब्रिटेन की दिलचस्पी बढ़ गई। यद्यपि फ्राँसीसी भी इस क्षेत्र में काफी क्रियाशील थे। एक फ्राँसीसी कंपनी ने स्वेज स्थल संधि के आर-पार एक नहर बनाने की अनुमति तत्कालीन मिस्री सूबेदार इस्माइल पाशा से प्राप्त कर ली थी और यह नहर 1869 में पूर्ण हुई। इस क्षेत्र में ब्रिटेन को भी अभिरुचि थी क्योंकि भारत का रास्ता सुरक्षित करने के उद्देश्य से स्वेज नहर का विशेष महत्त्व था। अत: ब्रिटेन ने इस क्षेत्र में सक्रिय दिलचस्पी लेते हुए मिस्र को जीत लिया और 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत में ब्रिटेन द्वारा यह घोषणा की गई कि मिस्र अब तुर्की का एक प्रांत न होकर ब्रिटेन का एक सुरक्षित राज्य है। अन्य अफ्रीकी क्षेत्र की तरह उत्तरी अफ्रीका के सूडान का प्रश्न भी ब्रिटेन एवं फ्राँस के मध्य तनाव का कारण बना। सूडान अंतत: ब्रिटेन के कब्जे में आ गया। हालांकि फ्राँसीसियों द्वारा दक्षिण सूडान पर अधिकार करने की कोशिश की गई परन्तु अंग्रेजों द्वारा गहरी शिकस्त दी गई। इसके बावजूद भी फ्राँस को तथाकथित [illegible] क्षेत्र में नियंत्रण बढ़ाने की छूट मिली। फ्राँस ने एक लंबे युद्ध के पश्चात् इस क्षेत्र को जीत लिया और इस उपलब्धि के पश्चात् फ्राँस अपने भूमध्य रेखीय क्षेत्रों को उत्तरी एवं पश्चिमी अफ्रीका में अपने उपनिवेशों को आपस में जोड़ने में सफल रहा।

इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के पहले यूरोपीय देशों ने अफ्रीकी आदिवासियों की स्वतंत्रता का अपहरण किया। इस नग्न साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वाधिक क्षेत्रफल वाला भाग फ्राँस के अधिकार में आया। उसे लगभग 42 लाख 50 हजार वर्गमील क्षेत्र मिले जबकि ब्रिटेन के अधीन 35 लाख वर्गमील तथा जर्मनी एवं इटली के अधीन लगभग 10-10 लाख वर्गमील क्षेत्र वाले उपनिवेश शामिल थे। 20वीं शताब्दी के आरंभ तक कुछ छोटे-मोटे क्षेत्रों को छोड़कर लगभग संपूर्ण अफ्रीका महादेश किसी न किसी यूरोपीय देश के प्रत्यक्ष शासन या संरक्षण के अंतर्गत आ चुका था। सहारा मरुस्थल के दक्षिण के विशाल भूखण्ड पर लाइबेरिया तथा इथियोपिया को छोड़कर सभी अफ्रीकी क्षेत्र विभिन्न यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का उपनिवेश बन चुके थे। इस प्रसंग में एक विशेष बात यह है कि अफ्रीका के उत्तरी भाग में तटवर्ती पश्चिमी मोरक्को, मध्यवर्ती भाग में लीबिया तथा पूर्व में मिस्र इन महाशक्तियों की प्रतिद्वंद्विता का मुख्य केन्द्र बना रहता था। इस क्षेत्र में इन यूरोपीय साम्राज्यवादी महाशक्तियों की इस प्रतिद्वंद्विता ने प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि को मजबूत आधार प्रदान किया।

एशिया में साम्राज्यवाद *(Imperialism in Asia)*

अफ्रीका से बहुत पहले एशिया में साम्राज्यवाद अपना पैर फैला चुका था। 1870 से पूर्व ही इसके अधिकतर भाग बँट चुके थे। अत: इन क्षेत्रों में नए बँटवारे का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि अफ्रीका में। एशिया का लगभग 1/3 भाग रूस के अंतर्गत शामिल था। भारत में अंग्रेज अपनी पकड़ मजबूत बना चुके थे परन्तु जापान को अधीन करने की कोशिश असफल रही। मेईजी पुनर्स्थापना के फलस्वरूप जापान भी इस साम्राज्यवादी दौड़ में मुख्य रूप से शामिल हो गया। इस समय यूरोपीय साम्राज्यवाद के अग्रदूत प्रशांत महासागर के पूर्वी तटवर्ती क्षेत्रों में कदम बढ़ा रहे थे। इस समय चीन का विशाल साम्राज्य विघटन के कगार पर खड़ा था जिसकी शासन पद्धति एवं सामरिक शक्ति बिल्कुल क्षीण हो चुकी थी। यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रसार हेतु यह विशाल देश अत्यंत उपयुक्त था क्योंकि प्राकृतिक संसाधन के रूप में कच्चे माल के विशाल केन्द्र के साथ ही यह एक विशाल बाजार का विकल्प प्रस्तुत कर रहा था। ऐसी स्थिति में स्वभाविक रूप से इस क्षेत्रों के प्रति यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के बीच आकर्षण का विषय बनना समय की बात रह गई थी। चीन के साथ अपने कूटनीतिक आचरण में इन साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों ने अदूरदर्शिता एवं विश्वासघात का परिचय दिया। चीन के संपर्क में आनेवाले सभी साम्राज्यवादी देशों द्वारा यही कहा जाता था कि चीन की अखण्डता का सम्मान करना एवं हर देश को उसके साथ व्यापार का अवसर उपलब्ध कराना उसका प्रमुख उद्देश्य है। परन्तु ये बाहरी दिखावा मात्र था। इन विभिन्न साम्राज्यवादी देशों द्वारा चीन के विभिन्न भागों में एकाधिकार संबंधी रियायतों के लिए पेकिंग सरकार पर दबाव डालना शुरू किया। इतना ही नहीं इन साम्राज्यवादी देशों द्वारा विभिन्न चीनी बंदरगाह नगरों में अपना केन्द्र बनाने की कोशिश की जाती थी। 1839 में चीन-ब्रिटेन के मध्य हुए प्रथम अफीम युद्ध के पश्चात् अन्य यूरोपीय देशों का हस्तक्षेप वहाँ बढ़ता गया। फिर द्वितीय अफीम युद्ध, चीन-जापान युद्ध (1894-95), बॉक्सर विद्रोह (1900 ई०) आदि द्वारा इन यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों ने चीन में अपना प्रभाव बढ़ाया। चीन में अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम करने के लिए बड़े राष्ट्रों के आपसी संघर्ष की अपनी विशेषताएँ थीं। रूसी सरकार चीन पर विशेष रूप से ध्यान

Copyright – Drishti The Vision Foundation

देती थीं। इसके अलावा, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान की भी चीन पर ललचायी निगाहें थीं। 1894 में चीन-जापान युद्ध के परिणामस्वरूप हुए 'शिमोस्की की संधि' के तहत् जापान ने कई रियायतें हासिल कीं। फिर, रूस के साथ टकराव हुआ और रूस-जापान युद्ध में अंतिम परिणति रूस की पराजय के रूप में सामने आई।

फारस एवं अफगानिस्तान जैसे मध्य पूर्व देशों पर भी साम्राज्यवादी देशों की नजर पड़ी। चूँकि अफगानिस्तान ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के निकट स्थित था, अतः अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा हेतु ब्रिटेन द्वारा अफगानिस्तान पर अपना प्रभाव बढ़ाया जाना स्वाभाविक था। इस दिशा में किए गए प्रयास के फलस्वरूप ब्रिटेन को अफगानिस्तान के साथ दो अफगान युद्ध लड़ने पड़े और अंततः अफगानिस्तान ने अपनी विदेश नीति का दायित्व ब्रिटेन को दे दिया। मध्य पूर्व के एक महत्त्वपूर्ण देश फारस जिस पर मुख्यतः रूस एवं ब्रिटेन दोनों की ललचायी नजरें थी, ने आपस में समझौता कर बिना फारस की स्वीकृति के उसे आपस में बाँट लिया। उत्तर-पश्चिमी फारस रूसी प्रभाव में जबकि दक्षिण-पूर्वी भाग ब्रिटिश प्रभाव में रहा।

'यूरोप का मरीज' कहे जाने वाले तुर्की साम्राज्य की कमजोरी एवं पतनावस्था ने विभिन्न साम्राज्यवादी देशों को अपनी ओर आकृष्ट किया। तुर्की की गंभीर वित्तीय स्थिति के कारण विदेशी ऋण में व्यापक बढ़ोत्तरी होती गई और इसी के आधार पर विदेशी शक्तियों ने वहाँ कई रियायतें पाईं। अंग्रेज दजला-फरात के मध्यवर्ती क्षेत्र मेसोपोटामिया पर अपना प्रभाव क्षेत्र-कायम करने में सफल हुए। ब्रिटिश तथा फ्राँसीसी कंपनियों ने भूमध्यसागर के किनारे रेल-लाइने बिछाने संबंधी गतिविधियाँ शुरू की। फ्राँसीसी द्वारा सीरिया एवं लेबनान में कई उदारवादी गतिविधियाँ चलाकर अपने प्रभाव-क्षेत्र में वृद्धि करना चाह रहे थे। इस संबंध में जर्मन साम्राज्यवाद संपूर्ण एशियाई तुर्की क्षेत्र को ही अपने प्रभाव क्षेत्र में शामिल करना चाहता था। उसके अनुसार बार्लिन से कुस्तुनतुनिया होते हुए बगदाद तथा फारस की खाड़ी तक रेलवे-लाइन बिछाने संबंधी निर्णयों से निश्चित ही जर्मनी के प्रभाव में आशातीत वृद्धि होती। यद्यपि यह योजना सफल न हो सकी। इस क्षेत्र में रूस की भी आँखें जमी हुई थीं। आमतौर पर प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व अधिकांशतः यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का तुर्की में कहीं न कहीं प्रभावशाली क्षेत्र स्थापित हो गया था।

पूर्वी एशिया में साम्राज्यवादी प्रसार चीन के अतिरिक्त मुख्यतः दक्षिण प्रशान्त महासागरीय द्वीपों तक सीमित था। 1874 में ब्रिटेन द्वारा फिजी द्वीपसमूह पर अधिकार कर लिए जाने के पश्चात् विभिन्न साम्राज्यवादी देशों की निगाहें भी इस ओर आकृष्ट हुईं। विभिन्न यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों जैसे फ्राँस, हॉलैंड एवं बाद में जर्मनी ने भी ब्रिटेन की देखादेखी इस दिशा में गंभीर प्रयत्न किए। इस समय तक ब्रिटेन ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड क्षेत्र में अपना उपनिवेश स्थापित कर चुके थे। यही कारण है कि वह किसी दूसरे साम्राज्यवादी देशों का इस क्षेत्र में विरोध करता था। इस समय फ्राँसीसी एवं डच भी दक्षिणी प्रशांत क्षेत्र में साम्राज्य प्रसार की महत्वकांक्षा रखते थे। साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका भी इस क्षेत्र में गहरी अभिरुचि रखते थे। एशियाई क्षेत्र के लिए खुला एवं सुरक्षित जलमार्ग की दृष्टि से प्रशांत-महासागरीय द्वीपों का पर्याप्त सामरिक महत्त्व था। ज्ञातव्य रहे कि जर्मनी ने अन्य क्षेत्रों की तरह इन क्षेत्रों में भी अपनी साम्राज्यवादी नीति को देर से शुरू किया। पूर्वी द्वीप समूह के समीपवर्ती क्षेत्र न्यूगिनी पर अधिकार करने के मुद्दों पर जर्मनी एवं ऑस्ट्रेलिया में तीव्र प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई और अंततः जर्मनी, इंगलैंड एवं ऑस्ट्रेलिया ने आपस में इसे बराबर-बराबर टुकड़ों में बाँट लिया। इसके पश्चात् जर्मनी ने मार्शल तथा सोलोमन द्वीपों पर अधिकार कर लिया जबकि एलिस एवं गिलबर्ट जैसे द्वीप ब्रिटेन के अधीन आ गए। 1899 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पेन को अंतिम रूप से परास्त कर फिलीपीन्स द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया। स्पेन साम्राज्य के खंडहर पर अनेक साम्राज्यवादी शक्तियों का उदय हुआ, जैसे मेरियाना तथा कैरोलाइन्स द्वीप समूहों पर जर्मनी का एवं वैर द्वीप पर संयुक्त राज्य अमेरिका का अधिकार हो गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्राज्यवाद *(Imperialism of United States of America)*

यह भी साम्राज्यवादी प्रसार में पीछे नहीं रह सका। 1846-48 में उसने मैक्सिको के साथ युद्ध कर कैलिफोर्निया, अरिजोना, न्यू मेक्सिको आदि क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। रूस से 1867 में अलास्का खरीदा जबकि 1898 में स्पेन से युद्ध कर उससे फिलीपाइन द्वीप समूह, प्यूर्टोरिको एवं क्यूबा छीन लिया। उसी वर्ष अमेरिका ने हवाई द्वीप समूह पर भी अधिकार कर लिया।

वस्तुतः 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में स्पेनी साम्राज्य बिखर गया फलतः इस विशाल भू-भाग में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस स्थिति में कई साम्राज्यवादी शक्तियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इस संबंध में अमेरिका के राष्ट्रपति मुनरो द्वारा 'मुनरो सिद्धान्त' प्रस्तुत किया गया। इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार, यूरोपीयों के लिए पश्चिमी गोलार्द्ध में साम्राज्य-स्थापना पर रोक लगा दिया गया। 19वीं शताब्दी का अंतिम दशक यूरोप एवं अमेरिका में साम्राज्यवाद के चरमोत्कर्ष का काल था। 1907 ई० में पनामा नहर के क्षेत्रों पर आधिपत्य होने के पश्चात् अमेरिका द्वारा यह प्रसिद्ध घोषणा की गई कि उसे पड़ोसी लैटिन अमेरिका के प्रजातंत्रों में शांति-व्यवस्था स्थापित करने तथा उसे कायम करने का अधिकार है। इसी आधार पर अमेरिका लैटिन अमेरिका के इन क्षेत्रों के देशों पर आर्थिक नियंत्रण स्थापित करने में सफल रहा।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

साम्राज्यवाद का स्वरूप *(Nature of Imperialism)*

यद्यपि साम्राज्य तथा साम्राज्यवाद जैसी आक्रामक प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही प्रचलित है परन्तु समय एवं परिस्थिति के अनुसार इसके अर्थ भी परिवर्तित होते रहे हैं। अगर हम प्राचीन साम्राज्यवाद को व्यावहारिक अर्थ में देखें तो प्राचीन काल में साम्राज्य विस्तार प्रत्यक्ष कर प्राप्ति के लिए ही होते थे, जबकि 15वीं-16वीं शताब्दी में साम्राज्य विस्तार का उद्देश्य खाली क्षेत्रों में जनसंख्या का बसाव तथा पिछड़े क्षेत्रों से सोना-चाँदी जमा करना था। आधुनिक युग में पूंजीवादी साम्राज्य का उद्देश्य अत्यंत ही विस्तृत हो चुका है। इसका उद्देश्य अपनें पूंजी के निवेश हेतु एक सुरक्षित स्थान, कच्चा माल एवं बाजार की उपलब्धता सुनिश्चित करना है।

साम्राज्यवाद एवं प्रथम विश्वयुद्ध *(Imperialism and World War-I)*

साम्राज्यवाद के सर्वाधिक घातक परिणाम विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के मध्य तनाव, अविश्वास, गुटबंदी आदि के रूप में सामने आए। इन देशों के बीच विश्व के विभिन्न भागों में अपना साम्राज्य स्थापित करने हेतु कटु प्रतिद्वंद्विता की प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतर हो गई। फलत: इन देशों के मध्य राजनीतिक संबंध अत्यंत ही विषाक्त हो गए। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में चंद यूरोपीय देशों ने विश्व के विशाल भागों में अपना उपनिवेश कायम किया और पूरे संसार को इन शक्तिशाली देशों ने आपस में बाँट लिया परन्तु इन देशों को संतुष्टि नहीं हुई। इस संबंध में सर्वाधिक प्रतिद्वंद्विता ब्रिटेन एवं जर्मनी के बीच हुई। तुर्की साम्राज्य में अपने साम्राज्यवादी प्रभाव के विस्तार के लिए ब्रिटेन एवं जर्मनी के मध्य संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप संपूर्ण यूरोप अप्रत्यक्ष रूप से दो भागों में बंट गया और इसका परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-14

सोवियत संघ का विघटन
(Dissolution of the Soviet Union)

****(इस टॉपिक का संबंध मुख्य परीक्षा प्रश्नपत्र-I के टॉपिक 5 से है। 'दृष्टि' द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग-2 से है।)*

सामान्य परिचय *(General Introduction)*

गोर्वाचोव युग के अंत के साथ ही सोवियत संघ का विघटन शुरू हो गया। परन्तु, यह समझना गलत होगा कि सोवियत संघ के विघटन एवं अवसान की ज़िम्मेदारी सिर्फ गोर्वाचोव की ही है। वास्तव में इस घटनाक्रम के लिए किसी एक व्यक्ति से कहीं अधिक ऐतिहासिक प्रवृतियाँ ही निर्णायक भूमिका निभाती रहीं।

1917 की बोल्शेविक क्रांति की सफलता के फलस्वरूप रूस में सोवियत संघ नामक साम्यवादी देश का उदय हुआ। इस साम्यवादी व्यवस्था के अंतर्गत राजनीतिक एवं साम्यवादी संगठनों में समाजवादी विचारधारा को ही प्रधानता दी गई, जिसमें साम्यवादी- मार्क्सवादी दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। अतः नवीन स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि पूँजीवाद के पोषक देश एवं साम्यवादी देश एक-दूसरे को अपना जन्मजात शत्रु समझें। स्टालिन के समय में रूस में साम्यवादी दल की तानाशाही स्थापित हो गई। उसने बर्बरतापूर्वक अपने विरोधियों का दमन किया और इस रूप में अब सोवियत रूस जनतंत्र के हनन के रूप में सामने आया।

वास्तव में जब सोवियत सरकार स्थापित हुई थी तो लेनिन का यही विचार था कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता एवं जातीयता वाले क्षेत्रों को आपस में मिलाकर एकीकृत रूस की स्थापना की जाय। लेनिन के इसी विचार का सम्मान करते हुए स्टालिन ने बहुराष्ट्रीयता एवं बहुजातियता वाले संकीर्ण तत्वों को समाप्त एक एकीकृत मजबूत सोवियत संघ की स्थापना की और सोवियत प्रतिष्ठा को स्थापित करने का प्रयास किया। इस व्यवस्था के तहत् यह बात भी मान ली गई कि साम्यवादी व्यवस्था में संघ के सदस्य तथा हर राष्ट्रीय घटक का सर्वांगीण विकास संभव हो सकेगा। जो भी हो, वास्तविकता तो यही थी कि स्टालिन के शासनकाल में लगभग दो दशकों तक सोवियत संघ की एकता केन्द्र सरकार के निर्मम बल प्रयोग वाले अनुशासन से ही बरकरार रह सकी थी। वस्तुतः यह भी स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय जगत में निरंतर संकटग्रस्त रहने के कारण सोवियत रूस में राष्ट्रवाद को फैलाना संभव था, विशेष रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में एवं शीत युद्ध के शुरुआती चरण में। एक बड़ी समस्या यह भी थी कि केंद्रीय नियोजन वाली अर्थव्यवस्था में सोवियत संघ के विभिन्न हिस्सों को विकास का लाभ असंतुलित रूप से प्राप्त हुआ था। इस समय देश के विभिन्न हिस्सों को साम्यवाद की रक्षा हेतु एवं राष्ट्रहित में या अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे के बहाने बलिदान देने हेतु मजबूर होना पड़ता था। फलतः इस परिस्थिति में इन राज्यों में आक्रोश उत्पन्न होता था। केवल दमनकारी नीतियों के कारण इनकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी। स्टालिन युग की समाप्ति के पश्चात् ख्रुश्चेव के काल में भी वस्तुतः यह बात सामने नहीं आई कि सोवियत संघ के घटक राज्यों को अब राजनीतिक दृष्टि से स्वायत्त एवं आत्मनिर्भर होने का कोई मौका मिलेगा।

मध्य एशियाई क्षेत्रों के बारे में यह कहा जा सकता है कि यहाँ उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान एवं किर्गिस्तान के लोगों की जीवनशैली स्लाव देश के रूसियों से बिल्कुल ही अलग थी तथा ये लोग इस्लाम धर्म में आस्था रखते थे। अतः यह एक संवेदनशील मुद्दा बन गया एवं विशेषकर सांप्रदायिक तत्व सिर उठाने लगे। ये सांप्रदायिक तत्व किसी भी स्थिति में साम्यवाद पर भारी पड़ते थे। जॉर्जिया, अजरबैजान एवं चेचन्या में ये तत्व काफी सक्रिय रहे।

सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी ने आर्थिक विकास एवं सामाजिक पुनर्संरचना का जो विकल्प प्रस्तुत किया वह सफल नहीं हो सका। ट्राटस्की ने तो स्टालिन की नीति को समाजवाद के साथ विश्वासघात के रूप में प्रसारित किया। साथ ही स्टालिन के पश्चात् ख्रुश्चेव के समय में भी स्टालिन की नीतियों का माओवादी चीन ने भी विरोध किया। यहाँ यह बात परिलक्षित होने लगी कि सोवियत-संघ साम्यवादी क्रांतिकारी राज्य नहीं रह गया वरन् सुधारवादी एवं समझौतापरस्त शक्ति बन चुका है। इस प्रकार एक नया दृश्य सामने आया कि साम्यवादी सत्ता कमजोर होती गई। यह सत्य है कि सोवियत संघ के विघटन के लिए वहाँ का शीर्ष साम्यवादी नेतृत्व भी एक हद तक जिम्मेदार था। चूँकि सोवियत संघ में दल तथा राष्ट्र के बीच कोई अंतर नहीं था, अतः दल तथा राष्ट्र का नेतृत्व शीर्ष साम्यवादी नेता के हाथों में ही होता था। इस व्यवस्था में भाई-भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार पनपा एवं इससे साम्यवादी सरकार बदनाम होने लगी।

विघटन के कारण एवं परिणाम *(Cause of Dissolution and Consequences)*

विश्व राजनीति में 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में जबर्दस्त भूचाल आया। यह घटना सोवियत साम्यवादी रूस के विघटन के रूप में प्रस्तुत हुई। 1985-91 के मध्य घटित घटनाओं ने सोवियत संघ जैसी महाशक्ति एवं संगठित साम्यवादी खेमे को विघटन के चक्र में पीसकर रख दिया। विघटन की इस प्रक्रिया में कई कारण विद्यमान थे-

Copyright – Drishti The Vision Foundation

गोर्वाचोव ने पेरेस्त्रोइका के अंतर्गत कृषि क्षेत्र में सुधार किए, निजी खेती को बढ़ावा देने हेतु पट्टे एवं संविदा खेती को बढ़ावा दिया, कृषि क्षेत्र में सामूहिक संगठन के स्थान पर सहकारी संगठन पर विशेष बल दिया एवं मजदूरी वेतन को उत्पादकता से जोड़ा। इस तरह कहा जा सकता है कि गोर्वाचोव ने नवीन पद्धतियों एवं निवेश संबंधी नई नीति के माध्यम से अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन का प्रयास किया। वस्तुतः गोर्वाचोव इस नीति के माध्यम से एक नए समाज का पुनर्निर्माण लेनिन की विचारधारा के आधार पर करना चाहते थे। परन्तु, बदली हुई परिस्थिति में इस नीति का जबर्दस्त विरोध हुआ।

गोर्वाचोव एवं ग्लासनोस्त *(Gorbachev and Glasnost)*

ग्लासनोस्त का शाब्दिक अर्थ होता है–खुलापन। अर्थात् इसके तहत् लोकतंत्र को मजबूत बनाने हेतु खुली बहस को प्रोत्साहन दिया गया। मुख्य रूप से गोर्वाचोव ग्लासनोस्त का विस्तार सभी कार्यों के नियोजन एवं प्रशासन में करने के पक्ष में था। इतना ही नहीं, वह देश के प्रादेशिक, आर्थिक, जातीय, परिवेश संबंधी सामाजिक एवं अन्य समस्याओं पर खुली बहस करना चाहता था, ताकि लोगों की राय एवं विचार सामने आ सकें। गोर्वाचोव अपनी इस प्रसिद्ध नीति के तहत् समाजवाद को लोकतंत्र की राह पर लाना चाहता था। ग्लासनोस्त के तहत् अनेक असंतुष्टों को जेल से रिहा कर दिया गया, समाचार पत्रों एवं टेलीविजन को अधिक स्वतंत्रता दी गई, प्रतिबंधित स्टालिन विरोधी फिल्मों एवं उपन्यासों को प्रदर्शित तथा प्रकाशित करने की छूट दी गई, आर्थिक सुधारों के तहत् लघु उद्योग एवं सेवाओं के निजीकरण की अनुमति दे दी गई। राजनीतिक सुधारों के अंतर्गत जनवरी, 1987 में दलीय आंतरिक लोकतंत्र की घोषणा की गई। स्थानीय सोवियतों के सदस्य स्थानीय साम्यवादी दल के बजाय जनता द्वारा चुने जाने लगे।

गोर्वाचोव की इन नीतियों का परिणाम यह हुआ कि चारो तरफ परिवर्तन की बयार आ गई। सभी मुद्दों पर खुली बहस होने लगी। विदेश नीति में व्यापक परिवर्तन लाया गया तथा शीतयुद्ध के स्थान पर तनाव शैथिल्य को विशेष महत्त्व दिया गया। इन सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप परंपरागत सोवियत समाज को कठोर नियंत्रण, कठोर अनुशासन एवं लौह आवरण की नीति से मुक्ति मिल गई। यद्यपि खुली बहस का एक नकारात्मक पक्ष भी सामने आया। अब लोग गुटबाजी एवं संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न हो गए। इसी क्रम में गणराज्यों द्वारा अधिक स्वतंत्रता की माँग रखी गई एवं कुछ गणराज्य तो पूर्ण स्वतंत्रता की माँग कर रहे थे। ये सभी गणराज्य मिलकर सोवियत संघ का प्रतिनिधित्व करते थे। इतना ही नहीं, जनतांत्रिक तत्वों एवं कट्टरपंथी साम्यवादियों के बीच तनाव के फलस्वरूप कानून-व्यवस्था बिगड़ने लगी। अलगाववादी प्रवृत्ति तीव्र हो गई तथा हिंसा भड़क उठी। 1991 में कुछ साम्यवादी नेताओं ने तख्ता पलटने का असफल प्रयास किया। इसका समन्वित परिणाम यह हुआ कि सोवियत संघ के विघटन की प्रक्रिया तीव्र हो गई और अंततः यह बिखर गया। इस स्थिति में गोर्वाचोव ने त्यागपत्र दे दिया एवं दिसंबर 1991 में सोवियत संघ के स्थान पर 15 स्वतंत्र गणराज्यों का जन्म हुआ।

यह गोर्वाचोव की नीति का ही परिणाम था कि सोवियत संघ की केंद्रीय सत्ता कमजोर हो गई। गोर्वाचोव की व्यक्तिगत जनतांत्रिक नीतियों ने गणराज्यों को संघ से अलग होने को मान्यता प्रदान की और एक के बाद एक गणराज्य क्रमिक रूप से स्वतंत्र होते गए एवं संघ का विघटन हो गया। गोर्वाचोव की नीतियों के परिणामस्वरूप सोवियत साम्यवादी दल की शक्तियों में निरंतर क्षीणता आती गई। अब सोवियत संघ को एकता के सूत्र में बाँधने वाले सबसे बड़े संपर्क सूत्र के रूप में साम्यवादी शक्ति कमजोर होती गई। स्वाभाविक रूप से इस स्थिति में साम्यवाद विरोधी शक्तियाँ मजबूत हुई जिन्हें अमेरिका एवं पाश्चात्य पूंजीवादी देशों का समर्थन प्राप्त था। यह गोर्वाचोव की ही नीति का परिणाम था कि पूर्वी यूरोप में साम्यवाद विरोधी शक्तियाँ मजबूत होती गई एवं सोवियत संघ की महाशक्ति की छवि समाप्त हो गई। गोर्वाचोव के सुधारवादी फैसलों से पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासनों पर नैतिक रूप से विपरीत प्रभाव पड़ा। 1980 में गोर्वाचोव द्वारा पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया एवं हंगरी से सोवियत सेनाओं को वापस बुला लिया गया तथा इन देशों में साम्यवादी शासन के समक्ष खतरा उत्पन्न होने पर भी सोवियत संघ द्वारा हस्तक्षेप न करने की घोषणा के कारण अब ये देश बाह्य समर्थन के आधार पर संकट को टालने की आशा नहीं कर सकते थे। इस प्रकार, गोर्वाचोव के सुधारों ने साम्यवादी देशों में चल रहे असंगठित विरोध को संगठित तथा सक्रिय करने में मुख्य भूमिका निभाई।

इस प्रकार, सोवियत संघ के विघटन ने अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को परिवर्तित कर दिया। एक महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का पतन हो गया एवं अब महाशक्ति के रूप में अमेरिका का एकमात्र वर्चस्व कायम हो गया। इस परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से शीतयुद्ध की समाप्ति हो गई। पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवाद कमजोर होता गया तथा वहाँ बहुदलीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था कायम हुई। एक अन्य परिवर्तन यह भी आया कि विश्व में बाजार अर्थव्यवस्था का प्रसार हुआ तथा लोकतांत्रिक प्रक्रिया ने तीव्र रूप धारण किया। इतना ही नहीं सोवियत संघ के विघटन के फलस्वरूप तृतीय विश्व के देशों को गंभीर आघात का सामना करना पड़ा। क्योंकि इन देशों को आर्थिक, सैनिक एवं तकनीकी सहायता प्राप्त होती थी, परन्तु विघटन की इस स्थिति में तृतीय विश्व के देशों पर उपनिवेशवाद के खतरे बढ़ गए।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

1/8/13

अभ्यास हेतु प्रश्न
(Questions for Practice)

विश्व इतिहास (World History)

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए, जो प्रत्येक लगभग 200 शब्दों में हो:

1. पुनर्जागरण से क्या तात्पर्य है? इसकी मुख्य विशिष्टताओं की चर्चा कीजिए और इटली में इसके उद्भव के कारण बताइए।
2. 16वीं तथा 17वीं शताब्दियों के दौरान यूरोप में हुए प्रोटेस्टेंट आंदोलनों के कारणों तथा परिणामों की चर्चा कीजिए।
3. उपनिवेशवाद क्या हैं? 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के दौरान एशिया, अफ्रीका और अमेरिका में उपनिवेशवाद के उत्थान और प्रसार के कारण बताइए। इसका कुल मिलाकर क्या प्रभाव पड़ा?
4. अमेरिका के उपनिवेशों ने अपने मातृदेश (नियंत्रण देश) के विरुद्ध विद्रोह क्यों किया? उसके परिणाम क्या निकले?
5. फ्राँसीसी क्रांति के कारणों और परिणामों की चर्चा कीजिए। दार्शनिकों की भूमिका इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी थी?
6. इटली के एकीकरण में काउंट कैवूर की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
7. बिस्मार्क की 'खून एवं खड्ग' की (कठोर) नीति से आप क्या समझते हैं? इस नीति ने जर्मन राज्यों के एकीकरण में किस प्रकार सहायता दी?
8. प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बनने वाली परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।
9. प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले यूरोपीय शक्तियों के राजनीतिक संबंधों का उल्लेख कीजिए।
10. 1919 के पेरिस शांति सम्मेलन और मित्र राष्ट्रों द्वारा पराजित केंद्रीय शक्तियों के साथ की गई विभिन्न संधियों का उल्लेख कीजिए।
11. उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनके कारण रूस में जारशाही शासन का अंत हुआ।
12. प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के वर्षों में जर्मनी की स्थिति की चर्चा करें। नाजियों के सत्ता में आने के लिए यह स्थिति कहाँ तक उत्तरदयी थी?
13. जर्मनी और इटली में क्रमशः नाजियों और फासीवादियों के सत्ता में आने का विवेचन कीजिए।
14. दो विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में विश्वशक्ति के रूप में अमेरिका के उदय की चर्चा करें।
15. 1929 में अमेरिका में आई महा-आर्थिक मंदी के क्या कारण थे? राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट ने इस पर काबू पाने के लिए क्या कदम उठाए?
16. 1917 के बाद के काल में रूस के पुनर्निर्माण में लेनिन की भूमिका की चर्चा कीजिए।
17. स्टालिन के सर्वाधिकारवाद की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं? उसकी नीतियों के संदर्भ में चर्चा कीजिए।
18. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि नाजी सर्वाधिकारवाद जर्मनों की प्रजातीय श्रेष्ठता के सिद्धांत पर आधारित था? अपने उत्तर के समर्थन में कारण बताइए।
19. आप 'तुष्टीकरण की नीति से क्या समझते हैं? यह नीति द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के लिए किस सीमा तक जिम्मेदार थी?
20. द्वितीय विश्वयुद्ध के अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के परिणामों के कारणों की चर्चा कीजिए।
21. संयुक्त राष्ट्र के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली समस्याओं को सुलझाने में कहाँ तक सफल रहा है?
22. उपनिवेशीकरण के उन्मूलन का क्या अर्थ है? द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद औपनिवेशिक साम्राज्यों का अंत होने के कारण बताइए।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

23. अफ्रीका में ब्रिटिश उपनिवेशों की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने वाले राष्ट्रवादी आंदोलनों के विकास की चर्चा कीजिए।

24. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फ्रांसीसी उपनिवेशों की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने वाली उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।

25. शीतयुद्ध के कारण बताएं। द्विध्रुवीय विश्वव्यवस्था के उदय में यह कहाँ तक उत्तरदायी था?

26. क्यूबा पर रूसी प्रभाव को व्यर्थ करने के लिए अमेरिकी प्रयासों की चर्चा कीजिए। क्या मिसाइल संकट को मिटाने के उसके प्रयास सफल साबित हुए?

27. 1961 के गुट-निरपेक्ष आंदोलन की स्थापना के लिए कौन-से कारक उत्तरदायी थे? एशिया और अफ्रीका से सैन्य तनाव को कम करने में आंदोलन के योगदान की चर्चा करें।

28. रंगभेद क्या है? दक्षिण अफ्रीका में इसका किस प्रकार अंत हुआ?

29. मिखाइल गोर्बाचेव के सुधारों का मूल्यांकन कीजिए। उसके द्वारा किए गए विभिन्न सुधारों के बावजूद रूसी अर्थव्यवस्था में गिरावट क्यों आयी?

30. उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जो 1989 में जर्मनी के पुनः एकीकरण का कारण बनीं।

31. पूर्वी यूरोप में साम्यवाद की विफलता के कारणों का उल्लेख कीजिए। इस विफलता ने सोवियत संघ के पतन में किस प्रकार योगदान दिया?

32. 1914 तक के काल के दौरान यूरोपीय देशों के बीच तनावों के कारण क्या थे? विवेचना कीजिए।

33. 1890 से लेकर 1914 तक कौन-सी ऐसी बातें हुईं जिनके फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया? क्या आपके विचार से युद्ध अनिवार्य हो गया था? विवेचना कीजिए।

34. रूसी क्रांति के कारणों पर विचार कीजिए। रूस का प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल होना रूसी क्रांति लाने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हुआ?

35. वर्साय संधि की मुख्य धाराओं का उल्लेख कीजिए। इस संधि को कौन-कौन सी बातें अन्यायपूर्ण थीं?

36. प्रथम विश्वयुद्ध के शीघ्र बाद के वर्षों के दौरान चीन के राष्ट्रपति आंदोलन की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं? डॉ. सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद वहाँ के घटनाक्रम तथा उससे निकले परिणामों का वर्णन कीजिए।

37. "फांसीवाद" से क्या तात्पर्य है? इटली में फांसीवाद किस प्रकार विजयी हुआ?

38. जर्मनी में फासीवाद के उदय का वर्णन कीजिए। उन घटनाक्रमों तथा कारणों पर विचार कीजिए जिनकी बदौलत उसकी विजय हुई। फासीवाद का जर्मन रूप उसके इतालवी रूप से किन दृष्टियों से भिन्न था?

39. तुष्टीकरण की नीति का क्या अर्थ है? 1930 वाले दशक से इस नीति के उदाहरण दीजिए।

40. आशा की गई थी कि प्रथम विश्वयुद्ध "युद्ध-मात्र का अंत कर देने वाला युद्ध" साबित होगा। एक सामूहिक परियोजना के अधीन उन विभिन्न घटनाक्रमों और कारणों का अध्ययन कीजिए जिनके चलते यह आशा पूरी न हो सकी।

41. हिटलर के जर्मनी को इतिहास का सबसे बर्बरतापूर्ण राज्य क्यों कहा जाता है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

42. "शीत युद्ध" से क्या तात्पर्य है? 1945 और 1950 के बीच की उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण शीत युद्ध आरंभ हुआ।

43. 1945 से 1975 तक वियतनाम के इतिहास की मुख्य घटनाओं का वर्णन कीजिए।

44. क्यूबा का प्रेक्षपास्त्र संकट कैसे हल हुआ?

45. 1945 के बाद सोवियत संघ की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का वर्णन कीजिए। सोवियत संघ के टूटने के कारणों पर परिचर्चा का आयोजन कीजिए।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

46. 1945 के बाद की लैटिन अमरीका की घटनाओं की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। अपने उत्तर को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दीजिए।

47. दुनिया के मामलों में गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा निभाई गई भूमिका का वर्णन कीजिए।

48. रंगभेद (एपरथाइड) की प्रणाली की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। उन घटनाओं का भी वर्णन कीजिए जिनके कारण दक्षिण अफ्रीका में यह प्रणाली धराशायी हो गई।

49. म्यूनिख समझौते पर कब हस्ताक्षर हुए और कौन-से लोग हस्ताक्षर कर्ता थे? इसे विश्वासघात की कार्रवाई कहकर आमतौर पर इसकी निंदा क्यों की गई?

50. "दूसरे मोर्चे" से क्या तात्पर्य है? अंत में वह मोर्चा कब खोला गया और उसके परिणाम क्या हुए?

निम्नलिखित में से प्रत्येक पर लगभग 50 शब्दों में टिप्पणी कीजिए:

1. मानवतावाद
2. प्रतिसुधार आंदोलन
3. बोस्टन टी पार्टी
6. बुर्जुआजी (मध्यवर्ग)
5. नेपोलियन संहिता
6. बोअर युद्ध
7. वर्साय की संधि (1919)
8. पहली रूसी क्रांति
9. राष्ट्र संघ की विफलता के कारण
10. वाइमार रिपब्लिक ऑफ जर्मनी
11. ब्लैक शर्ट्स
12. अक्तूबर 1929 का द ग्रेट वॉल स्ट्रीट क्रैश
13. लेनिन की नई आर्थिक नीति
14. यहूदी-विरोधवाद
15. अल्जीरिया में राष्ट्रवादी आंदोलन
16. ब्रिटिश राष्ट्रमंडल
17. नाटो (NATO)
18. यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC)
19. परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि
20. ट्रूमैन सिद्धांत (1947)
21. स्तालिन का कॉमिन्फोर्म
22. नेल्सन मंडेला
23. हंगरी तथा पोलैंड का साम्यवाद विरोधी आंदोलन
24. ग्लासनोस्ट तथा पेरेस्त्रोइका
25. अक्टूबर क्रांति के बाद रूस युद्ध से अलग क्यों हो गया?

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

S/7/13

World Map

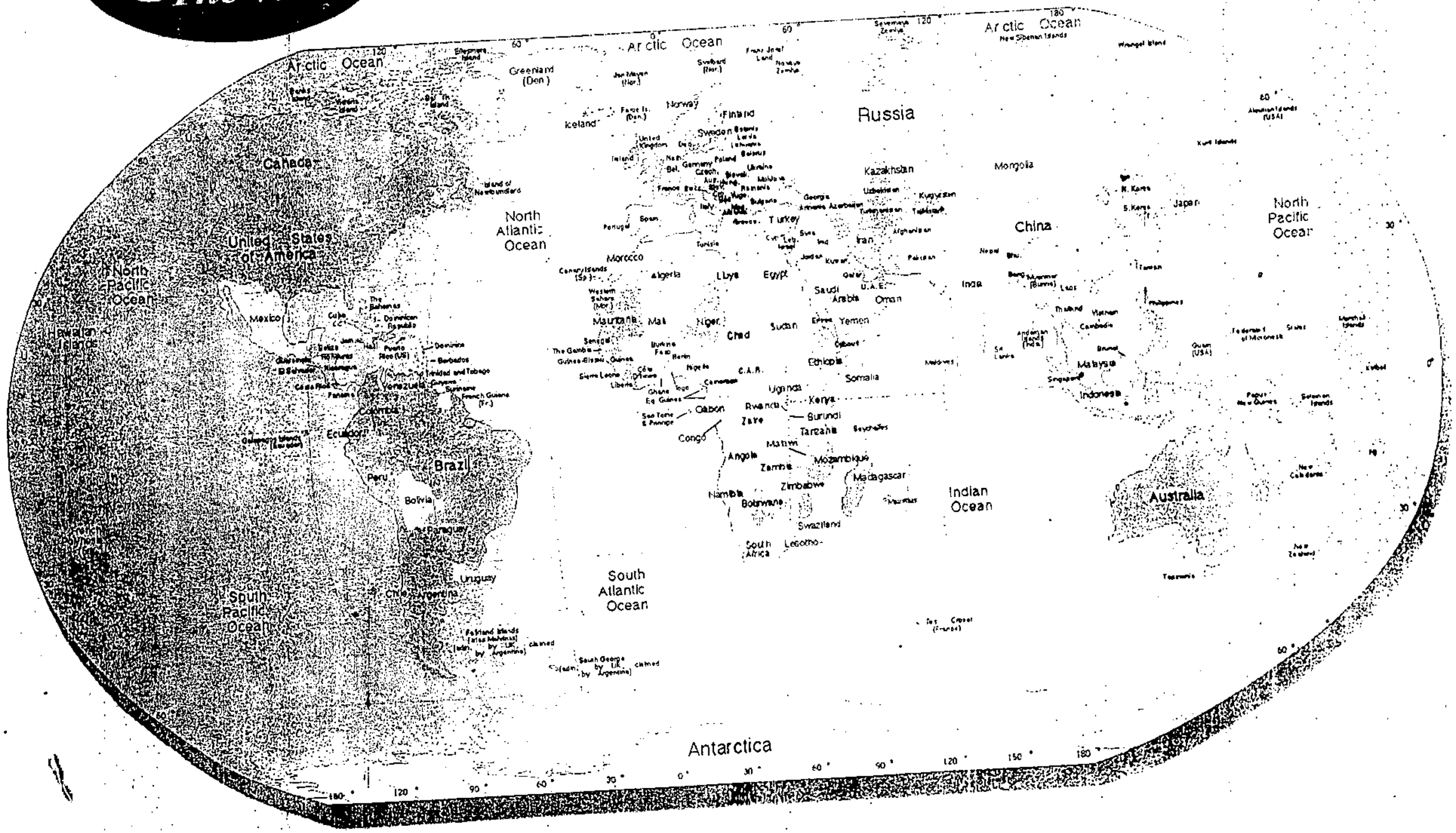

दृष्टि The Vision
सामान्य अध्ययन
(General Studies)
641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com,
वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Europe Map

Europe
Iceland
Atlantic Ocean
Sweden
Finland
Norway
Russia
Estonia
Latvia
Lithuania
Denmark
Belarus
Ireland
U.K.
Neth.
Germany
Poland
Ukraine
Belgium
Czech Rep.
Moldova
Austria
Hungary
Romania
France
Slovenia
Croatia
Bos. &
Herz.
Serbia
Bulgaria
Italy
Alb.
Greece
Turkey
Portugal
Spain
Morocco
Algeria
Tunisia

Europe Map 2

Political Map of Europe

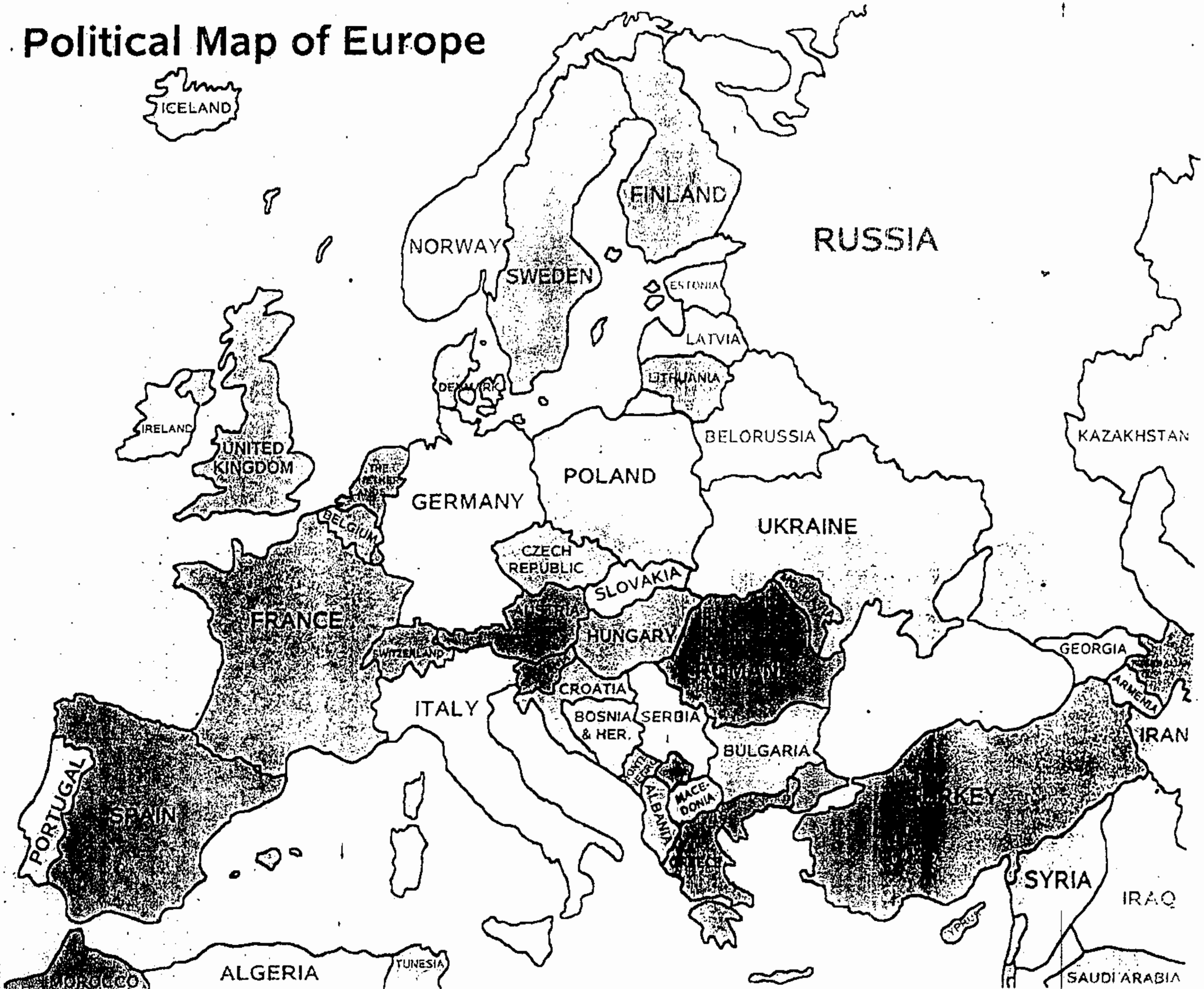

Asia Map

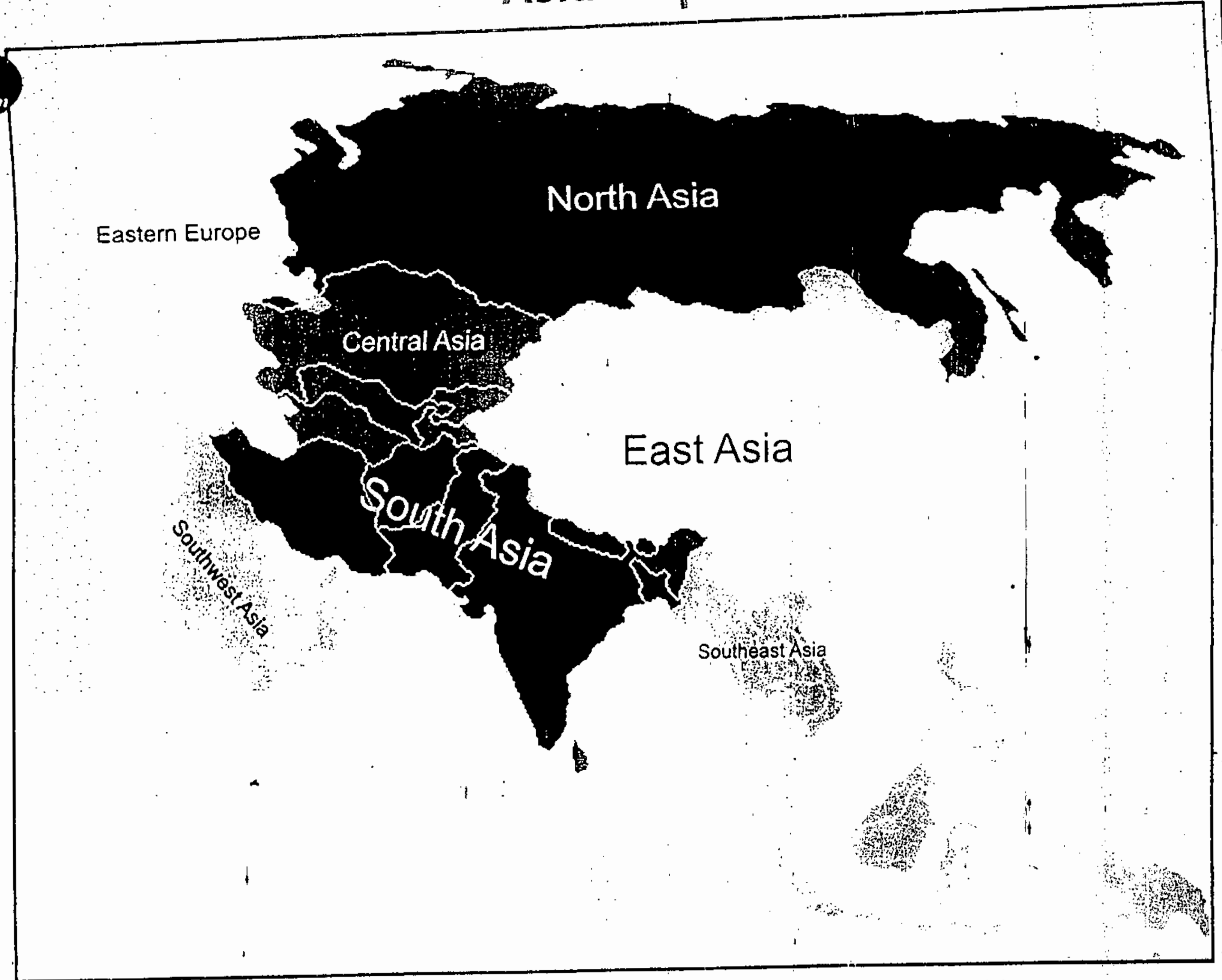

North Asia | Central Asia | Southwest Asia | Eastern Europe

South Asia | East Asia | Southeast Asia

दृष्टि The Vision
सामान्य अध्ययन (General Studies)
641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com,
वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Asia Map 2

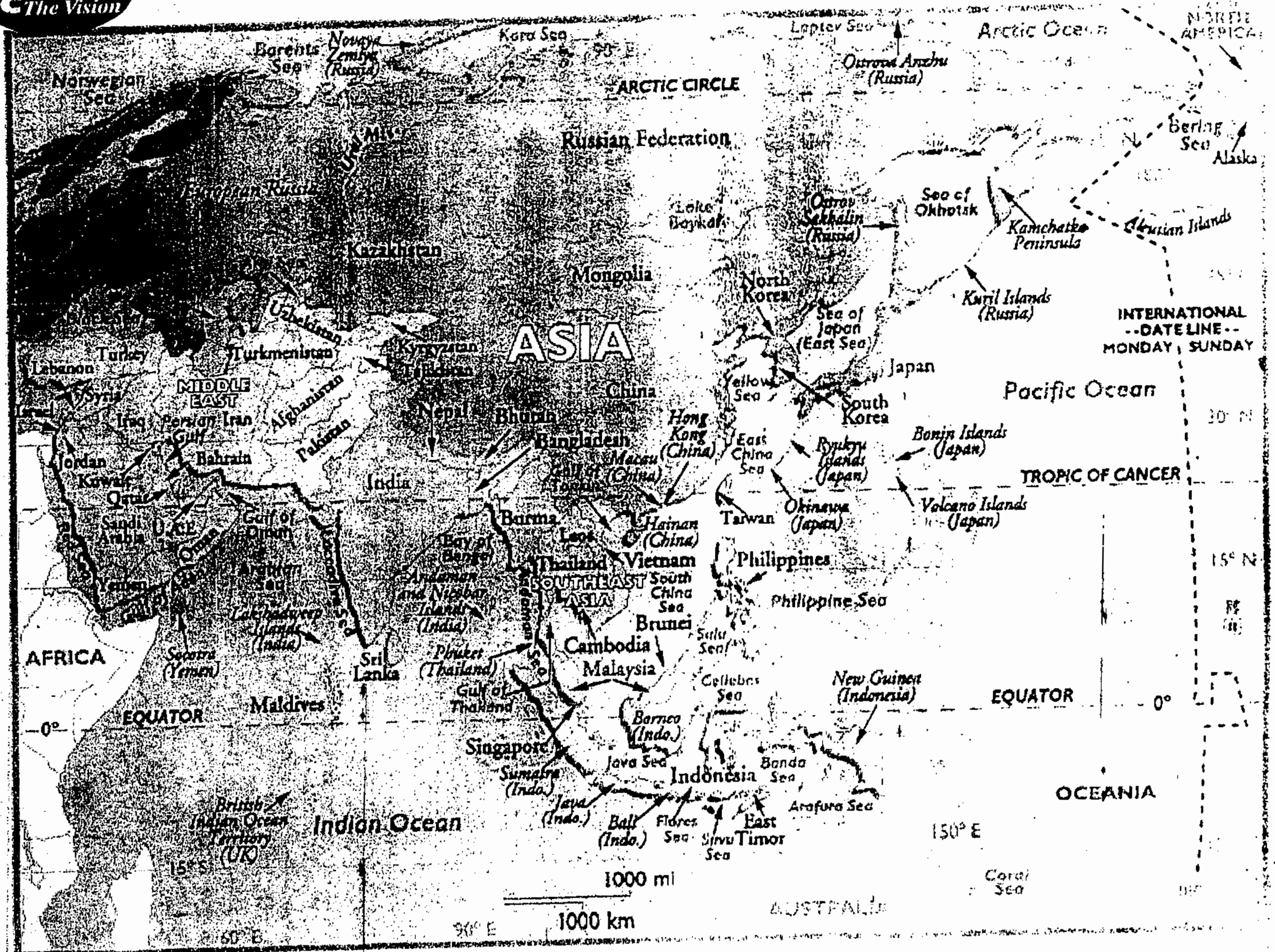

दृष्टि The Vision
सामान्य अध्ययन (General Studies)
641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली 9
दूरभाष: 011-27604128, 17532596 (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com
वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

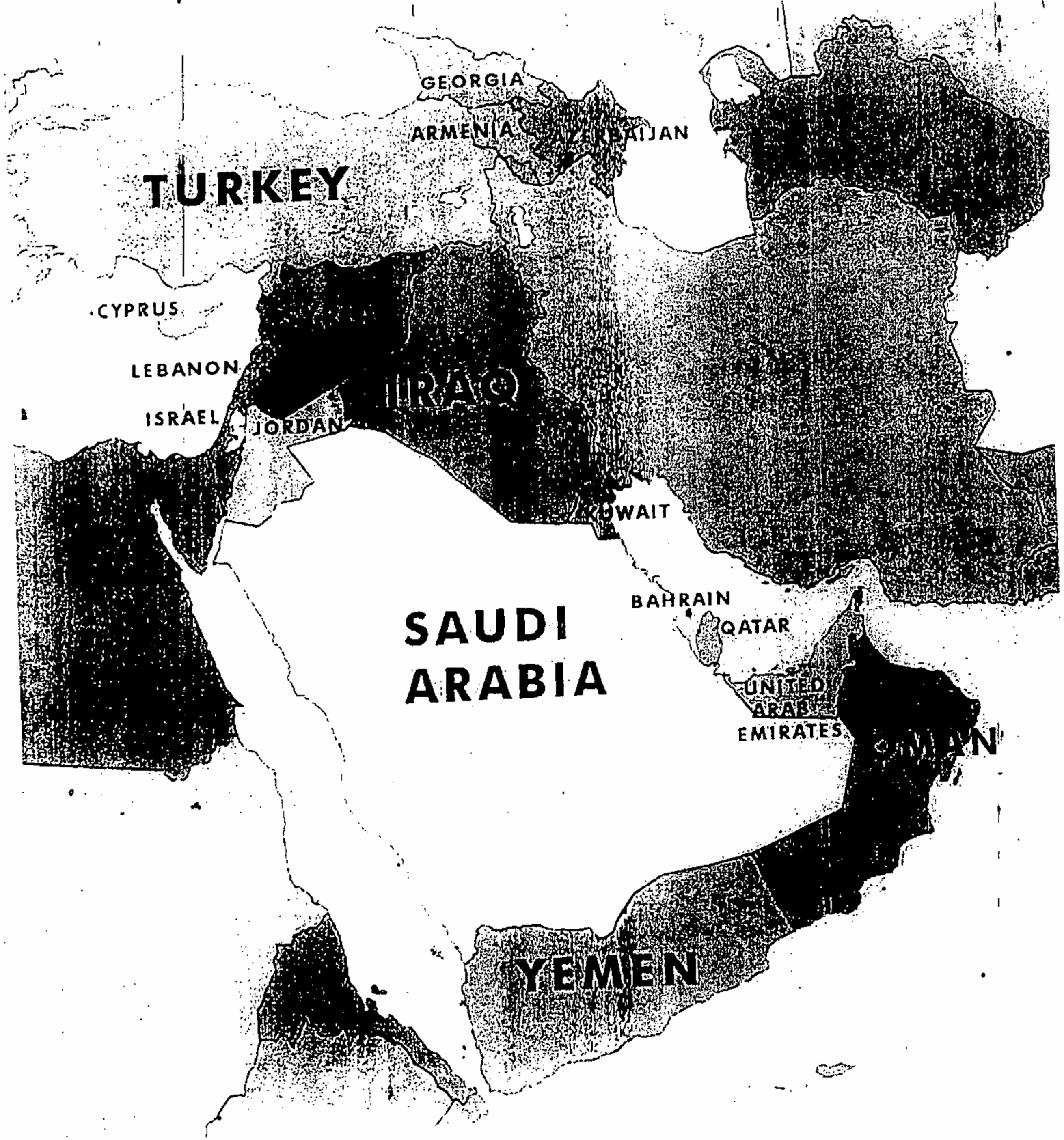

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com,
वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

West Asia Map 2

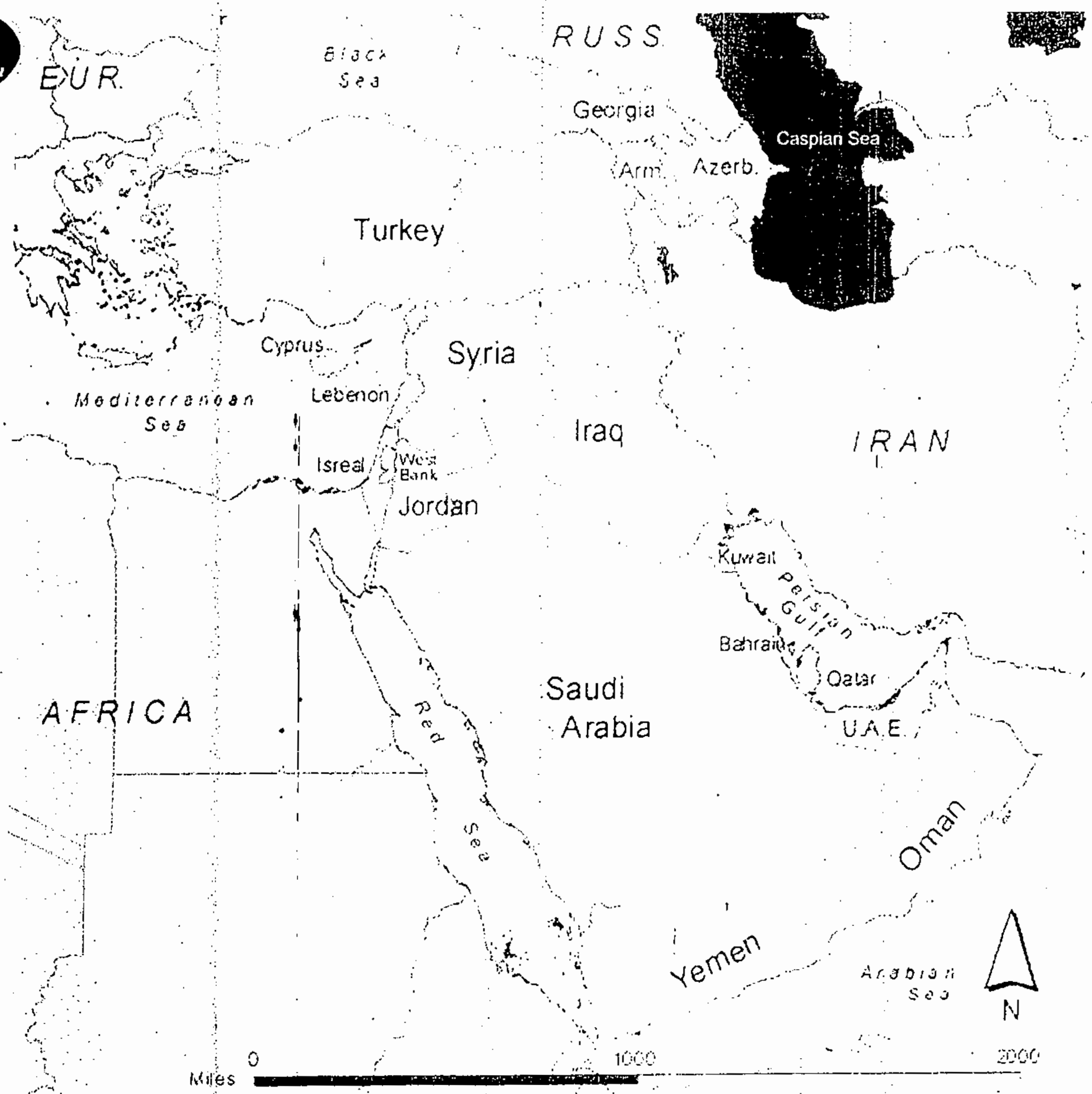

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com,
वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Central Asia

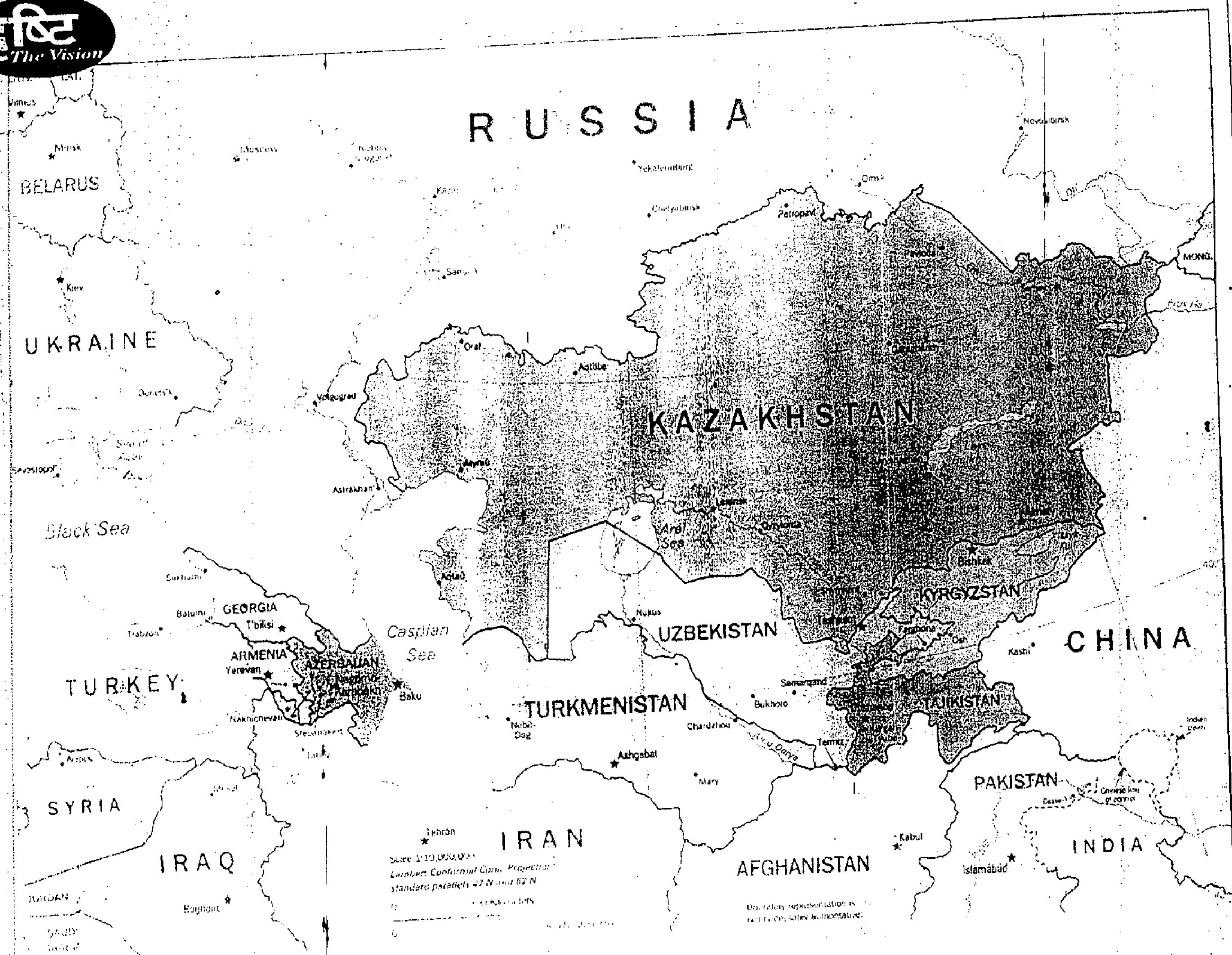

Middle East map

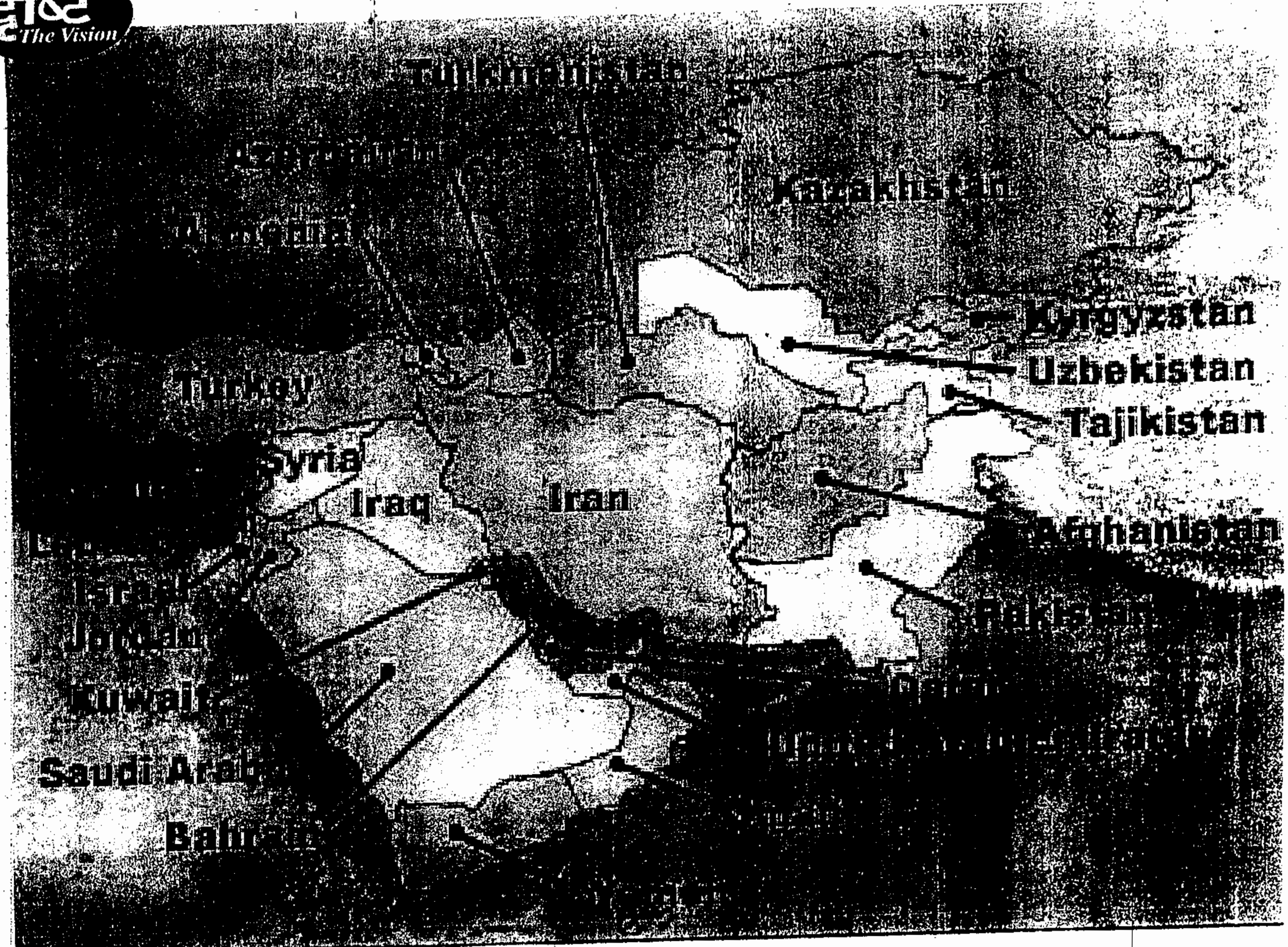

Middle East map 2

10
641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com,
वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
सामान्य अध्ययन
(General Studies)
दृष्टि The Vision

तिथि (Date) : 05/08/2013
सत्र समय (Batch Timing) : 1:00-3:00 pm

सामान्य अध्ययन-जाँच परीक्षा
(General Studies- Test)

अधिकतम समय (Maximum Time): 2 hrs.
अधिकतम अंक (Maximum Marks): 180 Marks

विश्व इतिहास
(World history)

1. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए, जो प्रत्येक लगभग 200 शब्दों में हो:** (20 × 5 = 100 अंक)

   (क) फ्रांस की क्रांति में दार्शनिकों की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण करें।

   (ख) यह नेपोलियन था जिसने इटली का एकीकरण किया। टिप्पणी कीजिए।

   (ग) फ्रेंकफर्ट की संधि यूरोप के लिए रिसने वाला फोड़ा था। टिप्पणी कीजिए।

   (घ) अमेरिकी क्रांति के स्वरूप को उद्घाटित कीजिए। क्या यह मध्यवर्गीय क्रांति थी?

   (ङ) अमेरिकी गृहयुद्ध एक शल्य चिकित्सा थी, जो अमेरिकियों के लिए अनकहा आशीर्वाद बन गई। विवेचना करें।

2. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए, जो प्रत्येक लगभग 150 शब्दों में हो:** (15 × 4 = 60 अंक)

   (क) नेपोलियन ने नवीन फ्रांस को प्राचीन फ्रांस से जोड़ा। स्पष्ट करें।

   (ख) जर्मनी का एकीकरण रक्त और लौह की नीति के माध्यम से हुआ। समीक्षा कीजिए।

   (ग) रूसो के चिंतन में समाजवाद, प्रजातंत्र एवं निरंकुशता के बीज दिखाई पड़ते हैं। टिप्पणी कीजिए।

   (घ) प्रबोधनकालीन विशेषताओं को अनुरूपित कीजिए।

3. प्रश्न का उत्तर दीजिए, जो लगभग 50 शब्दों में हो: (5 × 2 = 10 अंक)

   (क) वियना व्यवस्था

   (ख) बोस्टन टी पार्टी

4. प्रश्न का उत्तर दीजिए, जो लगभग 20 शब्दों में हो: (2 × 5 = 10 अंक)

   (क) बिस्मार्क

   (ख) कारबोनरी

   (ग) यंग इटली

   (घ) वर्साय की संधि

   (ङ) प्रबोधन

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation